[illegible]

संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

Published by
K. Mittra
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

आदर्श हिंदू

तीसरा भाग

लेखक

मेहता लज्जाराम शर्म्मा

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२८ मूल्य १।)

सूची

आदर्श हिंदू

तीसरा भाग

प्रकरण—४७

विराट् स्वरूप का चित्रपट

श्री जगदीशपुरी में प्रवेश करके जब तक यात्री मार्कंडेय कुंड के विमल जल में स्नान दानादि नहीं कर लेते, भगवान् के दर्शन करने की उनमें योग्यता नहीं होती। यह वहाँ की चाल है, चाल क्या है पुरी के माहात्म्य में आज्ञा भी ऐसी ही है। मकान पर आसबाब रखकर, डेरा डंडा जम जाने पर शरीरकृत्य से निवृत्त होकर पंडितजी प्रभृति नंगे पैरों स्नान करने के लिये गए। मार्ग में इन लोगों ने जो कुछ देखा उसका थोड़ा बहुत वर्णन समय आने पर किया जायगा किंतु एक बात यहाँ प्रकाशित किए बिना इस लेखक की लेखनी एकदम रुक गई। इसमें इस बिचारी को कुछ दोष भी नहीं दिया जा सकता क्योंकि जब कई महीनों से यह पंडित जी के पीछे पीछे चल रही है, जब इसे एक क्षण के लिये भी उनका वियोग सह्य नहीं है और जब काम पड़ने पर यदि यह इधर उधर जाती भी है तो लपककर फिर उनके पास पहुँच जाती है

तब पंडित जी के साथ ही यह भी रुकी तो इसका दोष ही क्या? और उन्हें भी इस समय दोषभागी नहीं कहा जा सकता। उन्हें श्री जगदीश के दर्शन की हजार चटपटी हो, हजार वह चाहते हों कि जैसे बने तैसे इस कार्य से निवृत्त होकर बाबा के दर्शन करें क्योंकि देरी होने से यदि पट बंद हो जायेंगे तो फिर चार बजे तक की छुट्टी है। इसलिये उन्होंने मार्कंडेय कुंड पर जाने में चाहे जितनी उतावल की किंतु उनके अंत:करण ने उनके चरणों को एकदम रोक दिया। उनका हृदय पहले ही कोमल था फिर वहां के सीन ने उसे मोम बना दिया, दयार्द्र कर दिया। वह सजल नेत्रों से, अंत:करण की सच्ची वेदना के साथ, दया उत्पन्न करनेवाले शब्दों में अपने साथियों से और विशेष कर गौड़बोले से खड़े होकर कहने लगे---

"ओहो! बड़ा भयानक दृश्य है। देखते ही रोमांच हो उठे। हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। आंखें बंद कर लेने को जी चाहता है। देखने की इच्छा नहीं होती। वह कुछ इस-लिये नहीं कि इनके घावों में से पीप बहता देखकर, मक्खियाँ भिनभिनाने से, दुर्गंधि के मारे माथा फटा जाने से घृणा होती हो। कल की किसने देखी है? इनके पूर्व संचित घोर पापों के फल से अपने प्रारब्ध का परिणाम भोगने के लिये यदि ये आज कोढ़ी हो गए तो क्या? किसे खबर है कि कल हमें भी ऐसी यातना भोगनी पड़े। वास्तव में जो कुछ है, यहाँ का यहाँ है। "यह खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे

ज़रा हाथ लो।" अजी देखा तो मालूम, इनकी बीसों अँगु-
लियाँ गल गईं। चलना फिरना भी कठिन है। ओहो! नाक
बिलकुल बैठ गई। हाय हाय! इस नन्हें से बच्चे ने ऐसा
कौन सा पाप किया होगा? अफसोस किसी की कोई खबर
लेनेवाला नहीं। अच्छा इस औरत को तो देखो! शरीर ढाँकने
के लिये, लज्जा निवारण करने को एक कपड़ा तक नहीं।
पट्टियाँ बाँधने के लिये एक चिंदी तक नहीं। हाय हाय!
पीप की धाराएँ बहकर धरती भिगोए डालती हैं, मक्खियाँ गाढ़
काटकर नाकों दम कर रही हैं। अब अँगुलियाँ गल गलकर
हाथ पैर बिलकुल लुंज हो गए हैं तब इसके मुँह में मुट्ठी चने
भी कौन डालता होगा? आबदस्त की भी मुश्किल है। ओहो!
दुर्गंध के मारे चक्कर आने लगे। जी व्याकुल होता है।
गिर पड़ने की इच्छा होती है। बड़ा भीषण दृश्य है। इच्छा
होती है कि यहाँ से भाग चलें परंतु मन नहीं चाहता। देखिए
देखिए! मालूम देखिए! ऐसे एक दो, दस बीस नहीं। इनकी
कुल संख्या दो सौ तीन सौ होगी। नूह की किश्ती है। अपने
पापों का परिणाम भोगने के लिये ये इकट्ठे हो गए हैं। मरकर यदि
यमराज का जेलखाना देखने के अनंतर कोई अपना अनुभव
सुनाने के लिये नहीं आता है तो न सही। यही यमराज का
कारागृह समझो। इससे बढ़कर क्या होगा? वास्तव में इनका
कष्ट देखा नहीं जाता। यदि मनुष्य में शक्ति हो तो राजा की
वर्षगाँठ पर जैसे कैदी छोड़े जाते हैं वैसे इन बिचारों को तुरंत

छुटकारा कर दे किंतु यह सामर्थ्य ईश्वर के बिना किसी में नहीं। खैर! इन्होंने पाप किए हैं और ये दंड भोगते हैं और सो भी भगवान् की ड्योढ़ी पर पड़े पड़े भोगते हैं तो किसी न किसी दिन उस दयासागर की इन पर अवश्य दया होगी किंतु जब तक अपने कुकर्मों का दंड भोगने के लिये ये जीते हैं तब तक के लिये पेट तो नहीं मानता। दुःख पाकर भूखा भी तो नहीं जाता! क्या भारतवर्ष में ऐसा कोई भी माई का लाल नहीं जो इनके लिये खाने पहनने और मरहम पट्टी का बंदोबस्त करके इन्हें छाया के स्थान पर नगर से अलग रख सके। साल भर में यहाँ लाखों यात्रियों का आगमन होता है, उनमें हजारों ही धनवान् आते हैं परंतु कोई इनकी सुध लेनेवाला नहीं। सूर्योदय से सूर्यास्त तक यहाँ, सड़क के दोनों किनारों पर कतार बाँधे पड़े रहना, यात्रियों के दिए हुए चनों के दाने दाने को इकट्ठा करके पेट भर लेना और चाहे वर्षा हो, चाहे सर्दी हो और चाहे गर्मी हो यहीं, पेड़ों की छाया में निवास। इससे बढ़कर यातना क्या होगी? घोर कष्ट है। वेदना की परिसीमा है।"

इस तरह कह कहकर आँसू बहाते बहाते पंडितायिन के इशारे से पंडितजी ने बाजार से पूड़ियाँ मँगवाईं और जितने कोढ़ी वहाँ थे उन्हें खिलाकर तब वह आगे बढ़े। ऐसे केवल पूड़ियाँ बाँटकर ही ये चल दिए हों सो नहीं। दंपती की घृणा उस समय बिलकुल काफूर हो गई। साथियों ने बहुतेरा उन्हें समझाया, रोका, यहाँ तक कह दिया कि

यह रोग बढ़कर लग जाता है किंतु उन्होंने कुछ परवाह नहीं की। दोनों के दोनों ने उनमें से जिनकी शक्ति नहीं थी, जो असमर्थ थे अथवा जो अपने हाथ से अपना काम नहीं कर सकते थे उनके पीप से भरे हुए घाव अपने हाथों से धोए; बाजार से नया कपड़ा मँगाकर उनके पट्टियाँ बाँधीं और तब मार्कंडेय कुंड में जाकर स्नान किया। वहाँ के कार्य से निवृत्त होकर जब इन्होंने श्री जगदीश के मंदिर में प्रवेश किया तब घड़ी में ठीक "टन टन" चार बजे थे।

दर्शन खुलने ही वाले थे। रथयात्रा का उत्सव न होने पर भी, और किसी तरह का व्यवहार न होने पर भी यात्रियों की भीड़ के मारे, उड़िया लोगों के ठट्ठ के मारे कोहनियाँ छिली जाती थीं, पैर कुचले जाते थे, और पुरी निवासी उड़ियों के शरीरों में की तेल तथा मछली की गंध के मारे सिर भिन्नाया जाता था। जिनका दिमाग गुलाब, जुही, मोगरा, चमेली के इतरों से सदा बसा रहता हो उनकी तो कथा ही क्या? उन्हें तो शायद उसी समय चक्कर आकर वमन हो जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं किंतु जो साधारण स्थिति के मनुष्य हैं उनका भी जी घबड़ाता था। खैर! वे लोग अकुलाते हैं तो अकुलाने दीजिए किंतु इस समय दर्शनों की आशा में सबके सब मग्न हो रहे हैं। राजा रंक का, अमीर गरीब का, भले बुरे का और स्त्री पुरुष का जो भिन्न भाव था वह यहाँ बिलकुल नहीं। यदि ब्राह्मण है तो क्या,

और शूद्र है तो क्या ? भगवान् के लिये सब समान हैं। अब जवनिका उठा दी गई। टेरा खुल गया। दर्शक भगवान् के दर्शनों का आनंद लूटने लगे किंतु जैसे जलाशय के ज्यों ज्यों निकट पहुँचते जाते हैं त्यों ही त्यों तृषा बढ़ती है वैसे ही अब मंदिर में प्रवेश करके निकट से श्री जगदीश की झाँकी करने की इच्छा बढ़ी। अवश्य ही भीतर जाने के लिये किसी की रोक टोक नहीं किंतु इतनी भीड़ में घुसकर अँधेरे मार्ग में जाना और फिर सही सलामत लौट आना हँसी खेल नहीं। फिर आज सब ही चाहते हैं कि भीड़ के सिल-सिले को छोड़-कर बीच के मार्ग से हम पहले ही भीतर चले जायँ। बस इस तरह "हम पहले !" की होड़ाहोड़ी है। पंडों के सिपाहियों का हाथ गर्म हो रहा है, दर्शक उनकी घुड़कियाँ खाते हैं, बेंत की मार खाते हैं, किंतु फिर भी कुछ दे दिलाकर औरों से पहले भीतर पहुँचते हैं। खैर ! इतना ही बहुत है। जब हिंदुओं के सब ही मंदिरों में सब ही तीर्थों में इन बातों का अनुभव होता है, जब इस उपन्यास में पहले भी कई बार इस विषय में लिखा जा चुका है तब पिसे को पीसने से क्या लाभ ?

अस्तु, पंडित पार्टी भी किसी न किसी प्रकार से मंदिर में जा पहुँची। वहाँ जाकर भगवान् जगदीश के समक्ष, उन परमात्मा के समक्ष जो सृष्टि उत्पन्न करने के समय ब्रह्मा, पालन करने में विष्णु और संहार करने के लिये शिव स्वरूप हैं दोनों हाथ जोड़कर, उनके अंग प्रत्यंग को निरखकर

उनके चरणों में अपने चर्मचक्षुओं के साथ साथ हृदय के नेत्रों को गड़ाते हुए पंडित प्रियानाथ जी आदि गाने लगे—

"देश सोरठ—हरि हौं बड़ी बेर को ठाढ़ो ॥ टेक ॥

जैसे और पतित तुम तारे तिन हीं में लिख काढ़ो ॥

जुग जुग बिरद यही चल आयो टेर करत हौं ताते ।

मरियत लाज पंच पतितन में हौं घट कहो कहाँ ते ? ॥

कै अब हार मान कर बैठो कै कर बिरद सही ।

सूर पतित जो झूठ कहत है देखो खोल बही ॥ १ ॥

धनाश्री—नाथ मोहि अब की बेर उबारो ॥ टेक ॥

तुम नाथन के नाथ स्वामी दाता नाम तिहारो ।

कर्महीन जन्म को अंधो मोतें कौन नकारो ॥

तीन लोक के तुम प्रतिपालक मैं तो दास तिहारो ।

तारी जात कुजात प्रभूजी मोपर किरपा धारो ॥

पतितन में एक नायक कहिए नीचन में सरदारो ।

कोटि पापी इक पासँग मेरे अजामील को न विचारो ॥

नाठ्यो धर्म नाम सुन मेरो नरक दियो हठ तारो ।

मोको ठौर नहीं अब कोऊ अपनो बिरद सँभारो ॥

क्षुद्र पतित तुम तारे रमापति अब न करो जिय गारो ।

सूरदास साँचो तब मानै जो होय मम निस्तारो ॥ २ ॥

शरण आए की लाज उर धरिए ॥ टेक ॥

सच्यो नहीं धर्म शील शुचि तप व्रत कछू कहा मुख ले बिनै तुम्हें करिए ॥

कछू चाहौं कहौं साँचि मन में रहौं कर्म अपने जानि त्रास आवै।
यहै निज सार अधार मेरे अहै पतित पावन बिरद बेद गावै ॥
जन्म तें एकटक लागि आशा रही विषय विष खात नहिं
तृप्ति मानी।
जो छिया छरद करि सकल संतन तजी तासु मति मूढ़ रस
प्रीति ठानी ॥
पाप मारग जिते सेब कीन्हें तिते बच्यो नहिं कोई जहँ
सुरति मेरी।
सूर अवगुण भरयो आइ द्वारे परयो तकी गोपाल अब
शरण तेरी ॥ ३ ॥

सारंग—तुम हरि साँकरे के साथी ॥ टेक ॥
सुनत पुकार परम आतुर ह्वै दौरि छुड़ायो हाथी ॥
गर्भ परीक्षित रक्षा कीनी बेद उपनिषद साखी।
बसन बढ़ाय द्रुपदतनया के सभा माँझ पत राखी ॥
राज रवनि गाई व्याकुल ह्वै दै दै सुत को धीरक।
मागध हति राजा सब छोरे ऐसे प्रभु पर पीरक ॥
कपट स्वरूप धरयो जब कोकिल नृप प्रतीति करि मानी।
कठिन परी तबहीं तुम प्रकटे रिपु हति सब सुखदानी ॥
ऐसे कहौं कहाँ लों गुण गण लिखत अंत नहिं पइए।
कृपासिंधु उनहीं के लेखे मम लज्जा निर्बहिए ॥
सूर तुम्हारी ऐसी निबही संकट के तुम साथी।
ज्यों जानो त्यों करो दीन की बात सकल तुम हाथी ॥ ४ ॥

धनाश्री—आजु हौं एक एक करि टरिहौं ॥ टेक ॥

कै हमही कै तुमही माधव अपन भरोसे लरिहौं ॥
हौं तो पतित अहौं पीढ़िन को पतितै ह्वै निस्तरिहौं ।
अबहौं उघर नचन चाहत हौं तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं ॥
कत अपनी परतीत नसावत मैं पायो हरि हीरा ।
सूर पतित तबही लै उठिहैं जब हँसि देहो बीरा ॥५॥

इस बार सूरदास जी के पद पंडित, पंडितायिन, गौड़-बोले तीनों ने मिलकर गाए। साथ में राग भरने के लिये बूढ़ा, बुढ़िया भी मिल गए और जब ताल सुर अच्छा जम गया तो एकदम दर्शनियों में सन्नाटा छा गया। सब की आँखें हरि चरणों में और कान इनके गान में। यों गायन समाप्त होने पर "धन्य! धन्य!" और "शाबाश! शाबाश!" की आवाज और कभी "खूब अमृत बरसाया!" का शब्द भीड़ में से बारंबार उठकर मंदिर में गूँजता हुआ बाहर तक प्रतिध्वनित होने लगा किंतु झेंपकर सिर झुका लेने के सिवाय पंडित जी ने कुछ उत्तर न दिया। वह फिर समय पाकर भगवान् जगत् के नाथ की यों स्तुति करने लगे—

"हे अशरण शरण, इससे बढ़कर और क्या कहूँ? जो कुछ मैंने अभी निवेदन किया है वह महात्मा सूरदास जी से उधार लेकर। उनकी सी योग्यता मुझ अकिंचन में कहाँ है जो मैं अपनी विनय आपको सुना सकूँ? भला उनका तो आपसे कुछ दावा भी था। दावा था तबही वह आपके

द्वार पर अड़कर बैठ गए। जो पद शिव सनकादिकों को भी दुर्लभ है वही उन्होंने पा लिया। और पाया सो भी चिरकालीन। खैर! उनका भी दावा था और गोस्वामी तुलसीदास जी का भी दावा था। उनका दावा था इसी लिये उन्हें बाँह पकड़कर कुएँ में गिरते गिरते बचाया, कुएँ में से क्या बचाया भवकूप में से बचा लिया और तुलसीदास जी का दावा था इसी लिये उनकी विनय पर मुरली और लकुटी त्यागकर धनुष बाण धारण किया किंतु मुझ जैसा पामर किस बिरते पर दावा करे। सूरदास जी ने जो कुछ कहा वह केवल विनय के लिये, अपनी नम्रता दिखाने को किंतु मैं तो सचमुच वैसा पापी हूँ, घोर पापी। मुझे उबारो तब आपकी दीन-दयालुता साँची है। हे नाथ! रक्षा करो! इस दीन, हीन, मलिन की रक्षा करो। हे तारणतरण! मुझे उबारो।"

इस तरह कहते कहते पंडित जी फिर ध्यानावस्थित, फिर निश्चेष्ट, निःस्तब्ध। उनका देहाभिमान जाता रहा। आँखों में से अश्रुधारा बहने के अतिरिक्त उन्हें अभी कुछ खबर नहीं कि उनके शरीर की इस समय स्थिति क्या हो रही है। इतने में दर्शकों में से न मालूम किसने, केवल पंडित जी को चिताने के लिये अथवा स्वभाव से ही कुछ गुनगुनाया। उसने क्या गाया, सो किसी ने सुना नहीं किंतु "हैं किस गोरी का ध्यान? कहाँ हैं भूपकिशोर?" कहकर पंडित जी मानो इधर उधर किसी खोई हुई वस्तु को ढूँढ़ने लगे। पंडितायिन उनकी

अर्द्धांगिनी होने पर भी इसका एक बार कुछ मतलब न समझ सकीं। हाँ उसने टटोल टटालकर अंत में मतलब निकाला कि किसी ने भीड़ में से "बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू, भूप-किशोर देखि किन लेहू" यह चौपाई गाई है।

अस्तु! अब पंडित जी फिर बोले—"इस स्वरूप में आज न भूपकिशोर हैं और न कृष्ण बलदाऊ हैं। भगवान् के दस अवतारों में से, चौबीस अवतारों में से एक का भी स्वरूप इससे नहीं मिलता। भारतवर्ष में हजारों क्या, लाखों मंदिर हैं। उनमें जो भगवान् की प्रतिमाएँ हैं वे अवतारों में से किसी न किसी भाव की प्रतिमूर्तियाँ हैं किंतु इसमें कौन सा भाव कहा जाय? पुराणों में इसकी कथा चाहे जिस तरह पर हो, जो कुछ होगी "जगन्नाथ माहात्म्य" सुनने से विदित हो जायगी किंतु इस समय तो मेरे अंत:करण में अचानक एक ही भाव का उदय हो रहा है। मानो बाबा मेरी ओर मुसकुरा कर गवाही दे रहे हैं कि मेरी यह कल्पना केवल कवि कल्पना नहीं है। हाँ! तो मेरी समझ में जो आया वह यही है कि गीता का उपदेश देकर उसे अर्जुन के अंत:करण पर अच्छी तरह जमाने के लिये भगवान् ने विराट् स्वरूप के दर्शन कराए, जैसे माता कौशल्या और माता यशोदा का मोह छुड़ाने के लिये भगवान् ने अपने मुख में, उदर में त्रैलोक्य को दिखला दिया उसी तरह यह मूर्ति विराट् स्वरूप का, त्रिलोकी का चित्रपट है। यदि भगवान् की कृपा से

अर्जुन की तरह हमें भी दिव्य दृष्टि मिल जाय तो हम देख सकते हैं कि इसमें राम हैं, कृष्ण हैं, संसार है और सब कुछ है। कुछ कुछ झलक मुझे भी ऐसी ही प्रतीत होती है किंतु हे जगदीश, आज आपकी वह मृदु मुसक्यान कहाँ गई? क्या आप सचमुच हम पामरों से रूठ गए हैं? बेशक! आप रूठे ही से मालूम होते हैं। अपनी संतान की अनीति देखकर माता जैसे रूठने का भाव दिखलाती है किंतु हृदय से नहीं, इसी तरह आप भी रूठे हैं! पापों के सागर में डूबे हुए हम लोगों के नेत्र ही नहीं! आँखों की जगह केवल गोल गोल गढ़े हैं। यदि दिव्य चक्षु, नहीं केवल हृदय चक्षु भी हम रखते हों और वे पाप विकारों से रहित हों तब हम आपकी वास्तविक छवि का अवलोकन कर सकते हैं। जब तक प्रारब्ध के फल से दिव्य चक्षु न मिलें, हिए की आँखें न खुल जाँय तब तक चर्म चक्षु ही गनीमत हैं। हमारे कितने ही भाइयों के तो यहाँ आकर वे भी बंद हो जाते हैं। मंदिर के भीतर जाने पर भी बाबा के दर्शन नहीं होते।"

"हाँ हाँ! ऐसा ही कहते हैं? कहते क्या हैं? आँखों से देख लो! खैर परंतु महाराज मूर्तियाँ तीनों ही विलक्षण हैं, अप्रतिम हैं। और और प्रतिमाओं में उनकी मधुरता, उनकी मृदु मुसक्यान, उनका अलौकिक शृंगार देखकर अंतः-करण द्रवित होता है इसलिये लोग कहते हैं कि उनका सौंदर्य इसका कारण है किंतु जब यहाँ सुंदरता का नाम नहीं, कुरू-

पता, राम राम ! भगवान् के लिये ऐसा कहकर पाप-पंक में निमग्न कौन हो ? फिर भी दर्शन करके मन पर एक असाधारण प्रभाव पड़ता है। वह वाणी के अगोचर है। भयानक मूर्ति को देखकर आदमी डरा करता है। डर के मारे आँखें बंद कर लेता है किंतु इन पर से आँखें हटती ही नहीं। इन चरणों को छोड़ने को जी नहीं चाहता। परमेश्वर ऐसा ही करें। यदि ऐसा हो तो परम सौभाग्य समझो। इस जन्म में तो हमने ऐसा पुण्य ही क्या किया है जो ऐसा हो। ईश्वर की इच्छा!''

''वास्तव में यथार्थ है। परंतु क्यों महाराज, आप समझे ? ये तीनों विग्रह किन किन के हैं ? एक जगन्नाथ, दूसरे बलभद्र और मध्य में सुभद्रा। सुभद्रा कौन ? क्या श्रीकृष्णचंद्र की भगिनी अर्जुन की कुलवधू ? नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता ! वह एक सुगृहिणी होकर पति चरणों को क्यों छोड़ती ? यह सुभद्रा नहीं भद्रा है! लोगों ने भ्रम से कहना आरंभ कर दिया है। परंपरा से चाहे ऐसा ही कहते चले आवें किंतु यह श्रीकृष्णचंद्र की आठ पटरानियों में से एक हैं। पटरानियों में से हैं तब ही भगवान् के वामांग में स्थान लिया है। अच्छा कोई हो किंतु मेरी समझ में भगवान् जगदीश ब्रह्म, भगवान् बलभद्र जीव और भगवती सु-भद्रा माया हैं।''

इस तरह की बातें करते करते पंडित जी और गौड़बोले भीड़ से बचाने के लिये पंडितायिन को बीच में लिए हुए बूढ़ा, बुढ़िया और भोला, गोपीवल्लभ को साथ लेकर भग-

वान् की प्रदक्षिणा करते हुए मंदिर से बाहर निकले। परंतु ओहो! मंदिर का अंधकार? परिक्रमा की सकरी गली की कसामसी? कुछ पूछो ही मत। जहाँ अब दुपहरी में दीपक के बिना काम ही न चले। भगवान् के चरणों में पहुँचने के अनंतर मानो यह अंतिम कसौटी है अथवा सोने के तार को अधिक लंबा और अधिक बारीक बनाने के लिये सुनार की जंती की तरह प्रेम की जंती है।

कुछ भी हो, अब पंडित पार्टी भूख के मारे व्याकुल है। जरा उसे डेरे पर पहुँचकर कुछ विश्राम ले लेने दीजिए। प्रसाद पा लेने दीजिए। गोपीवल्लभ वास्तव में भूख के मारे रो रहा है, अपनी आँखों से मोती से आँसू गिरा रहा है। छोटा बड़ा कोई हो चेहरे तो सब ही के खिसियाने से हो रहे हैं। पंडित जी का भक्ति से पेट भर गया हो क्या हुआ और प्रियंवदा का चाँद सा मुखड़ा चाहे अपने भावों को छिपाने का प्रयत्न ही क्यों न करे किंतु उसके मुख कमल की कुम्हिलाहट दौड़ दौड़कर जतला रही है कि पति परमात्मा के महाप्रसाद पा लेने के अनंतर उनकी जूँठन मुझे भी मिले। अस्तु! पार्टी जब मकान पर पहुँच गई तब थोड़ी देर सुस्ताकर पंडित जी और गोड़बोले ने स्नान किया। पीतांबर पहने और यों तैयार होकर अपने खर्च के योग्य मंदिर से जाकर प्रसाद ले आए और तब सबने भक्तिपूर्वक, तृप्तिपूर्वक भोजन किया।

प्रकरण—४८

श्री जगदीश का प्रसाद और अश्लील मूर्तियाँ

"परंतु क्यों जी प्रसाद की तो यहाँ बहुत ही अवज्ञा है! राम राम! शिव शिव! ऐसी अवज्ञा? भगवान् जगदीश का जो महाप्रसाद देवताओं को भी दुर्लभ है, जिसके लिये बड़े बड़े ऋषि मुनि तरसते हैं, जिसका एक कनका भी भवसागर पार उतरने के लिये सेतु है और जिसका माहात्म्य वर्णन करने, जिसका गुण गान करने में अपने हस्तारविंद पर रखकर महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने एकादशी के दिन दिन रात बिता दिए थे उसकी इतनी अवज्ञा? उसका इतना अपमान! उसका इतना अनाचार! घोर अनाचार है। बस हद हो गई!"

"हाँ सत्य है! यथार्थ है। वास्तव में केवल याद करने ही से रोमांच होते हैं। जब उसकी महिमा मूर्तिमती होकर दर्शन देती है तब आनंद से और जब उसका अनादर सामने आता है तब दुःख से हृदय दहल उठता है, रोमांच हो उठते हैं। हम लोग यदि मंदिर में जाकर ही ले आए, ऐसे लाकर ही हमने अपना मन समझा लिया तो क्या हुआ? यदि मंदिर में जाओ तो मंदिर में और बाहर फिरो तो बाहर, जहाँ जाओ वहाँ महाप्रसाद की गंध, जहाँ देखो वहाँ महाप्रसाद बिखरा हुआ पैरों से रौंदा जा रहा है। उसे तैयार करनेवाले

पाचक ये ही मछली खानेवाले ब्राह्मण, उन्हें लाकर यात्रियों के पास पहुँचानेवाले शूद्र। वास्तव में बाबा के निकट ब्राह्मण और शूद्र एक हैं, समान हैं, किंतु इसका क्या यह मतलब है कि मार्ग में लपक लपककर उसमें से खाते जाते हैं, खाते खाते जो कुछ बचता है उसे उसी में डाल दिया जाता है, जो कुछ बचा बचाया हो उसे बटोरकर दूसरे यात्रियों के पास पहुँचा दिया जाता है। घोर अनर्थ है। असह्य वेदना है। न शास्त्र-विहित आचार का कहीं पता है और न महाप्रसाद जैसी आदरणीय वस्तु का आदर।"

"बेशक, आपका कहना ठीक है। बस एक ही बार में मन भर गया। बहुत हुआ। गंगा नहाए। अब अपने हाथ से बनाना खाना और बाबा के दर्शन करना।"

इस प्रकार का मनसूबा करके, विचार स्थिर कर लेने पर भी चित्त को चैन नहीं हुआ तब अपने मन की भ्रांति निवृत्त करने के लिये—"इधर जाओ तो धाड़ और उधर गिरो तो कराड़" को याद करके पछताते हुए दो यात्री पंडितजी के पास आए। उन्होंने आकर, दोनों के मन के भाव उनको समझाने के अनंतर हाथ जोड़कर, निंदा के लिये नहीं किंतु भक्तिपूर्वक पूछा—

आज ही के दिन में आपकी चर्या देखकर हम लोगों को निश्चय हो गया है कि आप परमेश्वर के भक्त हैं, पंडित हैं और लोकाचार को भली भाँति जाननेवाले हैं। महाराज, वल्लभसंप्रदाय के मंदिरों में, मंदिर के मुखिया भीतरियों को प्रसाद

बेचते देखकर ही हमारा जी जलता था। भगवान् का महाप्रसाद जैसा सुर-दुर्लभ पदार्थ, जिसके मूल्य के आगे त्रिलोकी का राज्य भी तुच्छ है वह दूकानें लगाकर बेचा जावे! बड़े अनर्थ की बात है किंतु यहाँ आकर हम उसे भी गनीमत समझने लगे। यहाँ तो अवज्ञा की, अत्याचार की हद हो गई!

"हाँ! आप लोग ठीक कहते हैं। मन में ऐसे ही भाव उत्पन्न होते हैं। "श्रीजगदीश-माहात्म्य" मैंने सुना। यहाँ के पंडितों से मेरा वादविवाद भी हुआ। शास्त्रों के मत से यह अवश्य पाया जाता है कि भगवान् के महाप्रसाद का अनादर न करना चाहिए। उसमें छुआछूत का विचार नहीं। घृणा उत्पन्न होना भी पाप है किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम उसकी पवित्रता भी खो दें, उसकी महिमा का सर्वनाश हो जाय और वह पैरों से कुचला जाय।"

"हाँ महाराज! यही हमारा कथन है। परंतु यह तो बतलाइए कि किस प्रकार का प्रबंध होने से ये दोष, ये कलंक मिट सकते हैं? और हमें कर्तव्य क्या है?"

"कलंक मेटनेवाला केवल जगदीश है। वह चाहे तो एक क्षणभर में लोगों की गति मति सुधर सकती है। जाति पाँति के भेद का, छुआछूत के भिन्न भाव का अभाव भी यहाँ इस कारण से है और केवल उनके लिये है जो संसार के यावत् विकारों से रहित हैं, जिन्होंने अपनी इंद्रियों को जीत-कर, दुनिया के यावत् नातेदारों से नाता तोड़कर अपने अंतः-

करण को ईश चरणों में चिपटा दिया है। ऐसा करनेवाले शूद्र क्या अतिशूद्र तक परमपद प्राप्त करते हैं। शबरी, वाल्मीकि, रैदास और धना कसाई आदि अनेक भक्त इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। ऐसे भगवदीय जनों से स्पर्शास्पर्श की, जातिपाँति की घृणा न हो। यही यहाँ के महाप्रसाद का माहात्म्य है। ऐसे भक्त वास्तव में हमारे वंदनीय हैं। ये शूद्र, अतिशूद्र होने पर भी हमारे पूजनीय हैं। हम उनकी यदि जूठन भी खावें तो हमारा सौभाग्य किंतु भक्ति का हमारे हृदय में लेश नहीं, भगवान् के दर्शन करते समय भी उनके चरणों में लौ लगाने के बदले या तो हम रुपयों की थैली को याद करते हैं अथवा पर स्त्री के चरणों की महावर। मंदिर में आकर भगवान् की मूर्ति को निरखने के बदले जब युवतियों के हावभाव पर हमारी नजर पहुँचकर उनका सतीत्व बिगाड़ने की ओर हमारा मन दौड़ा जाता है तब कदापि हम इस बात के अधिकारी नहीं कि हमारा स्पर्श किया हुआ भोजन करके कोई महात्मा हमारे पापों के कीटाणुओं (जर्मों) को अपने मन में प्रवेश करे। इस कारण यदि उपाय हो सके तो ऐसा ही होना चाहिए जिससे महाप्रसाद की महिमा भी ज्यों की त्यों रहे, नहीं वर्द्धमान हो और हमारा आचार भी रक्षित रहे।"

"हाँ महाराज! यही हम भी चाहते हैं, परंतु इसका प्रकार क्या है?"

"मेरी लघुमति के अनुसार होना इस तरह चाहिए कि

मंदिर में प्रसाद बनानेवाले जो ब्राह्मण पाचक हैं वे चाहे उड़िया ब्राह्मण ही हों तो कुछ हानि नहीं। वे भी पंच गौड़ों में से उत्कल जाति के हैं। यहाँ गौड़ द्राविड़ों का भेद रखने की आवश्यकता नहीं।"

"परंतु महाराज, तब क्या नागर, गुजराती, गौड़, कनौजिये सब एक हो जाँय?"

"शास्त्र की मर्यादा से ब्राह्मण ब्राह्मण सब एक हैं। कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि एक प्रकार का ब्राह्मण दूसरे का छुआ न खाय। बात यह है कि आचार, देश-भेद और विचार-भेद से भिन्न भिन्न हो जाया करते हैं। जहाँ सर्दी अधिक पड़ती है वहाँ एक बार भी स्नान कठिन है और जहाँ गर्मी अधिक हो वहाँ तीन बार भी थोड़ा है। फिर "घृतपक्वं पय:पक्वं पक्वं केवल वह्निना"—ऐसे वाक्यों का अर्थ भी लोगों ने अलग अलग लगा लिया है। कोई पूरी को केवल घृतपक्वं मानकर उसका शूद्र से छू जाना भी बुरा नहीं समझते और कोई उसमें जल का अंश मानकर उसे कच्ची समझते हैं। इन कारणों से जहाँ आचार-भेद है वहाँ खान-पान में भी भेद रहेगा। किंतु इस झगड़े को अभी जाने दीजिए। विषयांतर हो जाने से असली बात हाथ से निकली जाती है।"

"अच्छा तो फर्माइए न कि क्या इन मछली खानेवाले उड़ियों का बनाया महाप्रसाद ग्राह्य है?"

"मैं मांस भक्षण को बहुत बुरा समझता हूँ। चाहे कैसा

भी विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण हो किंतु मांस मछली खाने-वाले से मुझे स्वभाव से घृणा है किंतु मैंने सुना है कि जो महाप्रसाद बनाने का काम करनेवाले हैं उन्हें तीन दिन पहले से मछली का त्याग करना पड़ता है। मेरी समझ में पाचकों का वेतन बढ़ाकर उनके कुटुंब में धर्मशिक्षा का प्रचार करके ऐसे पाचकों को नियत करना चाहिए जो इस कुकर्म से सदा ही बचे रहना अपना कर्तव्य समझें।"

"हाँ ठीक है, परंतु फिर ?"

"जैसे पाचक सदाचारी हों वैसे ही भगवान् के भोग लगाने-वाले भी हों। उनका स्पर्श किया हुआ नैवेद्य हम लोग स्नान करके, अपने अपने आचार के अनुसार पवित्र होकर यदि भोजन करें तो इसमें प्रसाद का आदर बढ़े और आचार की रक्षा भी हो।"

"तब इस तरह से हम उस महाप्रसाद को अपने घर ले आवें तो इसमें कुछ हानि नहीं ? रस्ते चला हुआ ?"

"नहीं! कुछ हानि नहीं। हम अपने आचार के अनु-सार लाकर पा सकते हैं! यह हमारे हाथ में है कि मार्ग में किसी से स्पर्श न होने दें।"

"और हमारे खाने के अनंतर पत्तल में उच्छिष्ट रह जाय तो ?"

"हम उच्छिष्ट रहने ही क्यों दें ? और रह जाय तो उसके लिये अंत्यज हैं! हमें फेंक न देना चाहिए।"

"अच्छा महाराज! ऐसा ही करेंगे। परंतु एक बात

और भी कह दीजिए। क्या इस महाप्रसाद को हम स्वदेश भी ले जा सकते हैं ?"

"नहीं ! माहात्म्य इस पुरी का है, केवल बाबा के चरणों में है। उसके चरणारविंदों से जितने दूर उतने ही दूर !"

"अच्छा महाराज, आपने हमारा संदेह मिटाकर बड़ा उपकार किया। आपके दर्शनों से आज हम कृतकृत्य हुए।" कहते हुए जब वे दोनों यात्री उनके पास से उठकर अपनी कोठरी में अपने अपने बिस्तरों पर जा सोए तब प्रियंवदा ने अपने प्राणनाथ के चरण चापने के लिये, उनकी दिन भर की थकान दूर करके उन्हें सुख से सुलाने के लिये अपने कोमल कोमल हाथ बढ़ाए। इस पर पंडित जी बोले—"हैं हैं ! यह क्या करती है ? आज तू भी बहुत थक गई है। सो जा ! सो जा ! एक दिन न सही ! क्या यह भी कोई नित्य नियम है। देवपूजा है ? यदि पुरी में आकर न किया तो न सही।"

"हाँ मेरे लिये तो नित्य नियम ही है। वास्तव में देवपूजा ही है। न किया सो न कैसे किया ?" कहकर प्रियंवदा पति के चरण चापने लगी। "क्यों जी नींद तो नहीं आती है ? आपकी निद्रा में तो विघ्न नहीं पड़ेगा ? आप आज बहुत थक गए हैं यदि नींद आती हो तो वैसा कह दो !" कहकर उसने कई सवाल पर सवाल कर डाले। उन्होंने उत्तर दिया—

"नहीं ! अभी नहीं आती ! नेत्रों में निद्रा का लेश भी नहीं है। आज शायद कुछ देर से आवे और अभी अति काल भी नहीं हुआ।"

"अतिकाल नहीं हुआ तो एक बात पूछना चाहती हूँ। मेरे मन में बड़ा संदेह है। जब से मैंने देखा है मैं लाज के मारे मरी जाती हूँ। भगवान् के मंदिर में ऐसा अनर्थ? ऐसी निर्लज्जता? ऐसी अश्लीलता? भला आपने महा-प्रसाद की उन लोगों को व्याख्या सुनाकर उसके विषय में तो मेरा संदेह निवृत्त कर दिया। यह सत्य ही है कि यदि कदा-चारी के लिये जाति पाँति का भेद नहीं है तो न रहे किंतु सदाचारी कदाचारी क्यों एक हो जायँ?"

"भगवान् के दर्शन करने के अनंतर जब कदाचारी भी सदाचारी हो जाता है तब कदाचारी कौन रहा? और कदा-चारी को भगवान् जगदीश दर्शन भी तो नहीं देते।"

"परंतु हम इस बात का निश्चय भी तो नहीं कर सकते कि कौन कदाचारी है।"

"इसीलिये मैंने उन यात्रियों को ऐसी व्यवस्था दी है। इसीलिये हमारे लिये ऐसा कर्तव्य है।"

"हाँ परंतु असली बात को न छोड़िए! मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए।"

"तेरे प्रश्न का उत्तर बड़ा गहन है। ऐसा संदेह केवल तुझे ही हुआ हो सो नहीं। जो यहाँ आते हैं उन सबको थोड़ा बहुत संदेह अवश्य होता है। मंदिर के शिखर के नीचे मनुष्यों को अच्छी तरह दिखलाई दे, ऐसे स्थान पर स्त्री पुरुष के संयोग की मूर्तियाँ देखकर लोगों को संदेह हो तो इसमें

उनका दोष भी नहीं है। दर्शकों के मन का भाव भी बिगड़े तो बिगड़ सकता है। मैंने इस विषय में पुरी का माहात्म्य देखा तो उसमें कहीं इस बात का उल्लेख नहीं। यहाँ के पंडितों से पूछा तो केवल एक के सिवाय सबने योंही आँय बाँय शाँय उत्तर दिया। कोई कहते हैं कि यह मंदिर बौद्धों का बनाया हुआ है परंतु अश्लील मूर्तियों की उनमें बिलकुल चाल नहीं। जैन मंदिरों में अवश्य नग्न प्रतिमाओं का पूजन होता है किंतु वे मूर्तियाँ महात्माओं की हैं। उनसे हमारा हजार मतभेद हो किंतु जिन महात्माओं के लिये स्त्री पुरुष समान, पत्थर और सोना एक सा उनकी नग्न मूर्तियों से मन का भाव नहीं बिगड़ सकता। महाप्रसाद के विषय में मैंने जिन लोगों से छुआछूत न मानने की राय दी है वे ऐसी ही स्थिति के थे। हमारे शास्त्रों में इसी लिये भगवद्भक्तों को बड़े बड़े विद्वानों से, राजा महाराजाओं से ऊँचा आसन दिया है। लोग भले ही ऐसी अटकल लगाया करें किंतु मेरी समझ में यदि यह मंदिर सतयुग का बना नहीं तो हजार वर्ष से कम का भी नहीं है फिर उस समय ऐसी मूर्तियाँ बनाने की क्यों आवश्यकता हुई? मेरे इस प्रश्न का उत्तर जो एक पंडित ने दिया उसका भाव यही है कि मंदिर शिल्प शास्त्र के नियमों के अनुसार बनाया गया है। उन्होंने ताड़ पत्र पर लोहे की लेखनी से लिखे हुए एक प्राचीन ग्रंथ में लिखा हुआ बतला दिया कि ऐसी मूर्तियों की बनावट से मंदिर की वज्रपातादि

उपद्रवों से रक्षा होती है। तब मेरी समझ में आया कि ऐसे सुंदर, गगनस्पर्शी, विशाल मंदिर की शोभा के लिये ये मूर्तियाँ दिठौना हैं। दिठौने से बालक की सुंदरता घटने के बदले जैसे बढ़ती है वैसे ही इन मूर्तियों को देखकर मन का भाव बिगड़ने के स्थान में सुधरना चाहिए। मथुरा में यमुना पार एक शिवमूर्ति के दर्शन करके मनुष्य को जैसे शिक्षा मिलती है वैसे ही किसी प्रकार की शिक्षा इन मूर्तियों को देखकर ग्रहण करना चाहिए।"

"हैं मथुरा की कैसी मूर्ति? मैंने दर्शन नहीं किए।"

"उस समय गौड़बोले साथ थे इसलिये मैंने तुम्हें मंदिर के बाहर ही ठहरा दिया था। उस शंकरमूर्ति के एक हाथ में जिह्वा है और दूसरे में......। उस प्रतिमा से यह शिक्षा मिलती है कि ये दो इंद्रियाँ ही मनुष्य को धर्म से गिरा देने-वाली हैं इसलिये जो भवसागर पार उतरना चाहे वह इन पर काबू रखे और इस तरह काबू रखे। इन मूर्तियों से उप-देश मिलता है कि भगवान् के मंदिर में आकर भी जिन नर-नारी के मन में इस प्रकार के काम विकार उत्पन्न होंगे उनकी कहीं गति नहीं है। वे यहाँ आए हैं स्वर्गप्राप्ति के लिये किंतु उनके लिये कुंभीपाक तैयार है। जैसे ऊबड़ खाबड़ भूमि पर चलनेवाला मनुष्य प्रमादवश होकर जब ठोकर खाने की भूल करता है तब ही अनुभवी शिष्ट जनों के मुख से अनायास "खबरदार! सँभलकर!!" निकल जाता है, वैसे ही ये प्रति-

माएँ हमें उपदेश दे रही हैं—"खबरदार! इस स्वर्ग-सुख के भरोसे देवमंदिर में आकर यदि भ्रम-वश भी तुम्हारे मन में हमारा सा, किंचित् भी काम विकार उत्पन्न हुआ तो तुम ऐसे गिरोगे कि फिर कहीं ठिकाना नहीं। स्वर्ग में निवास करनेवाले इंद्रादि देवताओं को, नारदादि ऋषियों को भी काम-वश गिरना पड़ा है।"

"बाबा की मूर्त्ति जैसे विलक्षण है वैसे उनकी सब बातें विचित्र हैं। दुनिया भर की प्रतिमाओं में सौम्यता, सुंदरता है और यहाँ भीषणता। हिंदू समाज में जहाँ देखो तहाँ आचार की प्रधानता और यहाँ अनाचार की पराकाष्ठा। दुनिया में अश्लील मूर्तियाँ निंदनीय और यहाँ खुलाखुली दिखलाई जा रही हैं।"

"इसका प्रयोजन यही है कि ये बातें संसारियों के लिये हैं और यहाँ आकर भगवच्चरणों में जिनका अंतःकरण सच-मुच लिपट जाय वे द्विधा से, हर्ष-शोक से, मानापमान से, अपने पराए से, सब बातों से अलग हो जाते हैं। हो जाने में ही सार्थकता है। उनके लिये जो कुछ है वह केवल भगवान् के पादपद्मों में अचल, अटल, अव्यभिचारिणी भक्ति है।"

इस प्रकार से बातें करते करते पंडित जी को जब निद्रा आने लगी तब प्रियंवदा ने मौन धारण कर लिया। पैर दब-वाते दबवाते जब वह सो गये तब वह भी सो गई। यों इन लोगों को विश्राम मिला।

प्रकरण—४६

समुद्र स्नान की छटा

आज इन लोगों को पुरी में आए ठीक दस दिन हो गए। शरीर कृत्य, स्नान संध्यादि और खाने सोने के सिवाय इनका सारा समय जगदीश के दर्शनों ही में व्यतीत होता है। ये लोग दिन रात भक्तिरसामृत का पान करते तो हैं किंतु अघाते नहीं। इनकी इच्छा नहीं होती कि श्री चरणों को छोड़ कर घर का नाम लें। इन्होंने यहाँ आकर पुरी के यावत् तीर्थों का स्नान कर लिया, समस्त मंदिरों के दर्शन कर लिये और हमारी इस पंडित पार्टी ने "श्रीजगदीश-माहात्म्य" भी चित्त की एकाग्रता के साथ सुना। माहात्म्य श्रवण करने में इस पार्टी के अतिरिक्त दो यात्री और भी संयुक्त हो गए थे। पंडित जी और गौड़बोले विद्वान् थे। "घृताधारे पात्रं वा पात्राधारे घृतं" करनेवाले शुष्क नैया-यिक नहीं, वेदांत की फक्किकाएँ रट रटकर माथा खाली कर देनेवाले और संसार को तुच्छ समझकर अकर्मण्य हो जाने-वाले वेदांती नहीं, साहित्य शास्त्र का मथनकर बाल की खाल निकालने के साथ केवल प्यारी के, नायिका के चरणों में लोटनेवाले रसिक बनकर कुएँ के मेंढक बननेवाले साहित्या-चार्य नहीं, अश्विनी, भरणी और कृत्तिका तथा मीन, मेष,

वृप को अँगुलियों की पोरों पर योंही अटरम सटरम गिनकर यजमान की प्रसन्नता के लिये मिथ्या मुहूर्त बतानेवाले ज्योतिषी नहीं और प्रश्नकर्त्ता की इच्छा के अनुसार हाँ में हाँ मिलाकर कभी स्याह को सफेद और कभी सफेद को स्याह व्यवस्था देकर व्यवस्था की मिट्टी खराब करनेवाले धर्म्मशास्त्री नहीं और सबसे बढ़कर यह कि व्याकरण के बल से वेद मंत्रों का अर्थ बदलकर, उनमें जो अंश अपनी राय के प्रतिकूल हो उसे चेपक बतला कर वेदों में रेल और तारों का सब्ज बाग दिखलानेवाले आजकल की नई रोशनी के पंडित नहीं। ये लोग ऐसे पंडितों के कार्यों पर घृणा करते थे और इनकी दुर्दशा देख देखकर दुःखित भी कम नहीं होते थे। इसमें संदेह नहीं कि पंडित जी की थोड़ी और बहुत गति सब शास्त्रों में थी और जितना उन्होंने पढ़ा, जितना उन्होंने मनन किया वह सार्थक था। केवल इतना ही क्यों? वह अँग-रेजी के अच्छे विद्वान थे और भारतवर्ष की प्रचलित प्रायः समस्त प्रांतीय भाषाओं का भी ज्ञान उन्हें कम नहीं था।

बस इनको ऐसा विद्वान्, ऐसा गुणवान् देखकर उन दोनों यात्रियों ने समझ लिया कि जहाँ तक बन सके इनसे पूछ पूछकर अपने संदेहों को निवृत्त कर लेना चाहिए। इसी उद्देश्य से जब तक पंडित जी पुरी में रहे उन्होंने इनका पिंड न छोड़ा। उन्होंने समय समय पर सवाल पर सवाल पूछे और जो पूछा उसका संतोषजनक उत्तर पाया। उन यात्रियों

का नाम हरिभक्त और ज्ञानीराम था। दोनों ही राजपूताने में मारवाड़ के रहनेवाले वैश्य थे। अन्यान्य प्रश्नों के साथ उनका एक प्रश्न ऐसा था जिसका संक्षेप से यहाँ उल्लेख कर देना चाहिए। "श्रीजगदीश-माहात्म्य" सुनकर उन्होंने पंडित जी से पूछा—

"महाराज, पुराणों में ऐसी असंभव बातें क्यों भर दी गई हैं जिन्हें सुनकर शिक्षित समुदाय उन्हें कपोलकल्पना समझ रहे हैं?"

"नहीं! कपोलकल्पना बिलकुल नहीं! उनका अक्षर अक्षर सत्य है। जो बात अपनी समझ में न आवे उसे मिथ्या बतला देना मूर्खता है, सूर्य पर धूल फेंकना है। पुराणों में दो प्रकार की कथाएँ हैं। जो लोगों को असंभव मालूम होती हैं उनमें अध्यात्म है। भागवत में "पुरंजनोपाख्यान" इसका नमूना है। वेद भगवदाज्ञा है, संसार के लिये एक ऐसा कानून है जिसका कभी परिवर्तन नहीं और पुराण उसके दृष्टांत हैं, उदाहरण हैं, हाईकोर्ट की सी नजीरें हैं। माता के स्तनों पर बालक मुख लगाकर पय पान करता है किंतु वहाँ जोंक के लगने पर दूध के बदले रक्त निकलता है। यह बात जुदी है, किंतु जो बातें उनको आज असंभव दिखलाई देती हैं वे समय पाकर संभव भी तो सिद्ध हो रही हैं। जैसे आजकल बेलून ने सिद्ध कर दिया कि देवताओं के विमान सच्चे थे। हमारे शिक्षित समाज में सबसे प्रबल दोष

यह है कि जब तक पश्चिमी विद्वान् उन्हें न समझावें कि तुम्हारे शास्त्रों में अमुक बात अच्छी है तब तक वे उस अच्छी को भी बुरी मानकर उससे घृणा करते हैं, उसकी निंदा करते हैं और पानी पी पीकर उसे कोसते हैं।"

"हाँ महाराज सत्य है। अब हमारी समझ में आया। आप ठीक कहते हैं।" यों कहकर उन्होंने पंडित जी का पिंड छोड़ा। तब से उनका इस किस्से से संबंध नहीं रहा और न इसलिये उनके विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता रही। अस्तु अब पंडित जी प्रभृति यहाँ के देवदर्शनों से निवृत्त हो गए। अब उनके लिये केवल एक ही काम शेष रह गया। उस कार्य को भी उन्होंने समय निकालकर कभी का निपटा लिया होता परंतु जब शास्त्र की आज्ञा है कि पर्वणी के बिना समुद्र स्नान नहीं करना चाहिए तब उन जैसा धार्मिक यदि पर्वणी की राह देखता हुआ वहाँ ठहरा रहे तो इसमें अचरज क्या? फिर जितने दिन अधिक ठहरना हो उतना ही पंडित जी का लाभ और पर्वणी को भी अधिक दिन नहीं फिर यदि उनके साथियों ने शीघ्र चलने का तकाजा भी किया तो वह समुद्र-स्नान का लाभ छोड़नेवाले व्यक्ति कहाँ?

खैर! आज कार्तिक कृष्णा अमावस्या है। दिवाली से बढ़कर पर्व कौन है? आज शीघ्र ही उठकर ये लोग स्नान संध्या से निवृत्त होकर श्री जगन्नाथ जी की मंगला की झांकी करने के अनंतर समुद्र में गोता लगाने गए। और तीर्थों की

तरह यहाँ यात्रियों की भीड़ नहीं, मुँडचिरे भिखारियों का जमघटा नहीं और यहाँ तक नहीं कि यदि ये लोग किसी को एक पैसा देना चाहें तो कसम खाने के लिये कोई लेनेवाला न मिले। इस सुविस्तीर्ण महासागर के तट पर कोई घाट नहीं, किनारे किनारे मीलों तक चले जाइए, बस्ती से कोस दो कोस जहाँ तक जी चाहे चले जाइए और जहाँ जगह अनुकूल दिखाई दे मन भर कर स्नान कर लीजिए। घर से चलते चलाते दर्शन करते कराते, उतावल करते करते इन्हें देरी भी बहुत हो गई है। ये लोग ऐसे समय में पहुँचे हैं जब समुद्र देवता अपनी विशाल विशाल लहरों का उछाल उछालकर घरघराहट की विजय दुंदुभी बजाते, वायु भैया की सहायता पाकर किनारे पर फटकार का अस्त्र चलाते टकराकर लौट जाते हैं। जहाँ अभी तक रेणुका की राशि पर राशि है वहाँ एक मिनट में जल ही जल। किंतु यह चिर-स्थायी नहीं। लोग सच कहते हैं कि समुद्र के "पाल नहीं कार है।" अथवा यों कहो कि जब पृथ्वी से उसकी पीरी नहीं चलती तब यों ही मन मारकर लौट जाता है। अस्तु! और कुछ न हो तो हमें समुद्र से दो बातों की शिक्षा अवश्य लेनी चाहिए। एक यह कि "क्षमाखड्ग करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति" और दूसरी यह कि यदि समुद्र की तरह हमें हजार बार किनारे को पार कर देने में आकर निष्फल लौट जाना पड़े तब भी निराश नहीं होना चाहिए। पृथ्वी क्षमा की मूर्ति

है। क्षमा ही की बदौलत सागर जैसा बलवान पड़ोसी उस पर आक्रमण पर आक्रमण करते रहने पर भी उसकी एक अंगुल जमीन नहीं ले सकता। जो मुठमर्दी से छीन लेता है उसे उसको झख मारकर व्याज कसर के साथ लौटा देना पड़ता है।

समुद्र के किनारे खड़े होकर पंडित जी के मन में ये ही भाव पैदा हुए और इस तरह जो उन्होंने पाया उसे कंजूस के धन की तरह छिपाया नहीं। जो कुछ पाया उसे औरों को दे दिया किंतु विद्यादान, शिक्षादान जैसे औरों को देने से बढ़ता है वैसे ही पंडित जी के अनुभव के खजाने में भी एक की वृद्धि हुई।

अस्तु! यहाँ और विशेषकर भाटे के समय स्नान करना हँसी खेल नहीं। समुद्र-स्नान और ऐसे एकांत को याद करके प्यारे पाठक यह न समझ लें कि दंपती ने मैदान पाकर खूब जलविहार किया होगा, खूब होलियाँ खेली होंगी। जहाँ जल में घुसते ही लहरों के जोर से पैर तले का रेता खिसकता है, जहाँ दस पंद्रह हाथ की मोटी लहर स्नान करनेवाले के माथे पर हाथ फेरती हुई उसे जलमग्न करके किनारे की ओर ढकेलती और आदमी को चित्त गिरा देती है वहाँ यदि प्रियंवदा डर के मारे जल में घुसने से घबड़ाती हो तो आश्चर्य नहीं। बड़ी देर तक समझा बुझाकर उसका भय छुड़ाने के अनंतर किनारे से कोई पाँच छः हाथ आगे बढ़कर उसने स्नान किया और तब भीगे हुए कपड़े को इधर उधर से खैंचकर अपनी लज्जा छिपाती हुई वह मथुरा की घटना याद करके

कभी शर्माती और कभी पछताती, यहाँ निर्विघ्न स्नान हो जाने से मुदित होती हुई बाहर निकली। ऐसे ही जब सब लोग स्नान कर्म से निवृत्त हो चुके तब पंडित जी बोले—

"ओहो! बड़ा गंभीर है! जिधर आँखें फैलाओ उधर मीलों तक, दृष्टिमर्यादा तक जल ही जल! जल क्या है मानों जल का एक पहाड़ खड़ा है! किनारे की भूमि से अवश्य ही नीचा होना चाहिए। नीचा है तब ही पुरी को अपनी ओर खैंचकर जलमग्न नहीं कर देता किंतु इन चर्मचक्षुओं से पहाड़ के समान ऊँचा दिखलाई दे रहा है। यह नीचा हो चाहे ऊँचाई में आकाश तक ही क्यों न पहुँच जाय, यह देवताओं का पूज्य और नदियों का स्वामी भा क्यों न हो और सूर्य भगवान् भी इसी से जल लेकर मेह क्यों न बरसावें किंतु बड़ा ही मंद भागी है। भगवान् के चरणों के निकट बस-कर संसार सागर से पार कर देनेवाले पादपद्मों का दर्शन नहीं पा सकता। शायद सागरत्व का इसे घमंड हुआ था। उस समय भगवान् रामचंद्र के बाणों की मार से इसकी अकल ठिकाने आ गई थी। तीन चुल्लुओं में महासागर का पान करके महर्षि अगस्त्य जी ने इसका अभिमान गंजन कर दिया। और तो और एक क्षुद्राति क्षुद्र पक्षी के अंडे तक को यह न बहा ले जा सका। मानो इस तरह यह पुकार पुकार कर कह रहा है कि एक अतुल ऐश्वर्यशाली, परम परा-क्रमी और बलवान् होने पर भी जब ईश्वर के चरणों के दर्शन

पाने से वंचित हूँ तब मैं किसी काम का नहीं। मेरे घमंड को चूर करने के लिये ही मेरे विशाल वक्षःस्थल पर जहाज दौड़ाए जाते हैं। मेरे अभाग्य में केवल इतने ही सौभाग्य का चिह्न समझो जो किसी सुकृत के फल से मेरे मोती प्रभुचरणों तक पहुँच जाते हैं और इसी का यह फल है कि पर्वणी पर लोग मुझमें आकर स्नान करते हैं। नहीं तो मेरा खारा पानी न किसी के पीने के काम आता है और न नाना प्रकार के पदार्थ पैदा करने के।''

बस इसी प्रकार की कल्पनाएँ करते और उन्हें साथियों को सुनाते पंडित जी घर गए। मार्ग में उड़ियों के शरीर से तेल की दुर्गंध, मरी हुई मछलियों की खरीद फरोख्त और उनकी दुर्गंधि के मारे सिर फटा पड़ने की दुहाई देकर नाक पर कपड़ा लगाए चले जाने से लोगों ने पंडित जी से शिकायत भी कम न की किंतु उस समय वह गले में उपवीत डाले एक ब्राह्मण को मछलियाँ खरीदते देखकर मन ही मन घबड़ा रहे थे, पछ-ताते जाते थे और उनका ऐसा पाप कर्म देखकर उन पर दया करते जाते थे। इसलिये उन्होंने किसी की शिकायत पर कान न दिया। मकान पर पहुँचकर थोड़ा सुस्ता लेने के अनंतर उन्होंने इतना अवश्य कहा कि—

''बाबा का यहाँ यदि मंदिर न होता तो कदाचित् भारत-वर्ष के धार्मिक हिंदू इसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। बिहार को गया और मिथिला ने पवित्र किया और उड़ीसा

को बाबा ने। इतिहासों से, पुराणों से इस बात का पता लगता है कि पहले ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया में हिंदुओं का राज्य था। जब तक वहाँ वर्णाश्रम धर्म का पालन होता था तब ही तक हिंदू वहाँ जाते आते थे। जब उस ओर सनातनधर्म का निर्वाह न देखकर वहाँ गोवधादि धर्म नाशक कार्य होते देखे तब ही प्राचीनों को अटक नदी के पार उतरने का निषेध करना पड़ा। विलायत जाने में लोग समुद्र-यात्रा की बाधा बतलाते हैं। यह भी बाधा सही है परंतु मैं इसे उतनी जोरदार नहीं समझता। मैं मानता हूँ कि वह भूमि गोवधादि दोषों से युगयुगांतरों से अपवित्र हो गई है इसलिये धर्मशास्त्र के मत से वहाँ का जाना अनुचित है। भारतवर्ष में भी इसी कारण अकाल पर अकाल पड़ते हैं।"

पंडित जी का इस विषय में जो मत था उन्होंने अपने साथियों को संक्षेप से सुना दिया और गौड़बोले ने उनके कथन का अनुमोदन भी किया। दर्शन करने से अवश्य मन नहीं भरता किंतु यों ही करते करते चलने का दिन निकट आ गया। अब निश्चय हुआ कि जो कुछ कार्य अवशिष्ट है उसे एक दो दिन में निपटाकर यहाँ से बिदा होना चाहिए। चलने की औरों को उतावल न थी। केवल तकाजा बूढ़े भगवानदास का था। बस उसी के तकाजे से इन्होंने वहाँ से चलने का मनसूबा किया।

प्रकरण—५०

भगवान में लौ

भगवान की पुरी धार्मिक हिंदुओं के लिये तो वास्तव में वैकुंठपुरी है हीं किंतु नवीन समुदाय के लिये भी विश्रांति का केंद्र है। प्रथम तो समुद्र तटवर्तिनी भूमि का पवन ही सुख-स्पर्श होता है। वहाँ न शरीर को झुलसाकर व्याकुल कर डालनेवाली लू का नाम है और न प्राणी मात्र के जीवनाधार शारीरिक रक्त का शोषण कर डालनेवाली कड़ी धूप का। बढ़ते बढ़ते वायुवेग की मात्रा यदि कभी कभी बढ़ जाय तो भले ही बढ़ जाय किंतु समुद्र के श्रुतिमधुर निनाद के साथ पवन के झकोरों से वृक्ष पल्लवों की खड़खड़ाहट मिलकर भगवती प्रकृति देवी को एक अजब राग से अश्रुतपूर्व बाजा बजाने और मधुर स्वर अलापने का अवसर मिलता है। वहाँ नवीन काट छाँट से, गमलों की माला से और दूब के तख्ते बनाकर बाग बगीचों को चाहे कृत्रिम सौंदर्य की साड़ी न उढ़ाई जाय परंतु पुरी की पवित्र पृथ्वी को प्रकृति ने वन उपवन की स्वाभाविक हरियाली में नैसर्गिक लता पल्लवों की साड़ी पहनाकर उन पर जंगली पुष्पों के हीरे मोती जड़ दिए हैं। जहाँ साक्षात् त्रिलोकीनाथ का निवास है वहाँ का जल वायु तो अच्छा होना ही चाहिए। बस इन्हीं बातों को ध्यान

में लाकर प्रकृति के उपासकों का, जिनका स्वास्थ्य की रक्षा करना ही परम कर्तव्य है, इसने जी ललचाया है। आठ मास तक पसीनाझार परिश्रम के अनंतर ग्रीष्म ऋतु में भगवान् भुवन भास्कर की उग्र मयूखों से बचने के लिये अनेक युरोपियन नर नारी सागर तटवर्ती बँगलों में निवास करते हैं। कितने ही सज्जनों ने क्षय रोग-पीड़ित मनुष्यों का स्वास्थ्य सुधारने के लिये एक "सेनीटोरियम" भी बनवा दिया है और लोग कहते हैं कि थोड़े ही काल में जब यहाँ युरोपियन अफसरों का ग्रीष्म निवास बन जायगा तब नगर की सारी गंदगी निकल जायगी।

यदि इस तरह गंदगी निकल सके तो अच्छी बात है किंतु इन बातों को देखते हुए भी पंडित जी से वहाँ के दो तीन सौ कोढ़ियों की दुर्दशा देख देखकर आँसू बहाए बिना नहीं रहा जाता। अभी वह भगवान् जगदीश के दर्शन का आनंद लूटते हुए वियोग से दुःखित होकर आँसू बहाते और "बाबा फिर दर्शन दीजिए" की विनय सुनाते हुए मानो आज अपना सर्वस्व खोकर घर को जाते हों, इस तरह उदास मुख से, खिन्न मन होकर आए हैं। सुर दुर्लभ महाप्रसाद पर जाने अनजाने यदि पैर पड़ गया हो, यदि भूल से अथवा जान बूझकर अवज्ञा हुई हो अथवा किसी तरह का अनाचार या पाप हुआ हो उसकी निवृत्ति के लिये समुद्र में स्नान कर आए हैं। अब भोजनादि से निपटकर असबाब बाँधना और जगदीश के पंडे

शितिकंठ महाशय को भेट देकर केवल उनसे विदाई लेना और गाड़ी पर असबाब रखवाकर स्टेशन को चलना अवशिष्ट है। पंडे महाराज भी उनके समीप ही विराजमान हैं। गुरूजी का काला कृष्ण वर्ण, सुदीर्घ काय, बड़ी बड़ी आंखें और छोटा सा चेहरा, बस यही उनका रूप रंग है। उनके सिर पर बनारस का बना जरीदार रेशमी साफा उनके काले मुखारविंद पर अपने नील रंग के साथ साथ जरी की झलक दिखाकर अजब बहार दे रहा है। भीतर सूती बनयान और ऊपर मलमल का कुरता, कमर में धोती और हाथ में पानों का बटुवा, बस ये ही उनके वस्त्र हैं। एक नौकर की बगल में दो तीन बहियाँ, हाथ में दावात कलम और दूसरे के पास कंठी, प्रसाद और भगवान् के चित्र, बस यही सामग्री उनके साथ है। गुरू जी में यदि सबसे बड़ा गुण देखा तो यह कि उनमें विशेष लोभ नहीं है। वह न तो किसी यजमान का जी मसोसकर पैसा मांगते हैं और न औरों की भाँति पाई पाई पर मूँड़ चीरते हैं। थोड़ी बहुत नम्रता करना, थोड़ी बहुत "नाहीं नूँहीं" करना, थोड़ा बहुत हठ करना उनका पेशा है। इतना भी न करें तो कदाचित् यात्री उन्हें अँगूठा दिखाने को तैयार हो जायँ किंतु उन्हें परिणाम में जितना मिल जाय उतने ही पर संतोष है। आज भी उन्होंने पंडित जी को अटका चढ़ाने का परामर्श दिया, करमाबाई की खिचड़ी के लिये सलाह दी और इसका अक्षय पुण्य

बतलाकर आग्रह भी किया किंतु अंत में पंडित मंडली ने जो कुछ दिया उस पर संतुष्ट होकर कंठी प्रसाद और चित्र देकर उनकी पीठ ठोंक दी। पंडित जी भी ऐसे संतोषी ब्राह्मण को कम देनेवाले थोड़े ही थे। उन्होंने अंत में यथाशक्ति गुरु जी की भेंट करके उनसे कहा—

"महाराज, जो कुछ पत्र पुष्प हमसे बन सका आपकी भेंट किया गया। जो कुछ दिया है वह केवल आपके योगक्षेम के लिये है। भगवान् का घर न हमसे भर सकेगा और न हम उनके कुवेर से भंडार में एक मुट्ठी डालने में समर्थ हैं। वह विश्वंभर हैं और हम उनकी चरण रज के भिखारी। भक्ति पूर्वक प्रणाम करना ही उनकी भेंट है। सो हमने यहाँ आकर भी किया और यदि उनका सचमुच अनुग्रह हो, यदि हमारा अंतःकरण पवित्र होकर उनकी कृपा का अधिकारी बन जाय तो घर बैठे भी तैयार हैं क्योंकि चोर जब किसी के घर में सेंध लगाकर अथवा ताला तोड़कर भीतर जाता है तब चोरी का माल पाता है किंतु उनके समान दुनिया में कोई चोर नहीं। बाबा हमारे घर से हजार मील पर बैठा है, कदाचित् इससे भी अधिक दूरी पर, किंतु यहाँ ही बैठे बैठे सात ताले के भीतर से, हमारे हृदय में से उसका नाम लेते ही पाप चुरा लिया करता है। सो महाराज उसकी ऐसी चुराने की आदत देखकर सारे ही पापों का बोझा उसकी ड्योढ़ी पर डालने और उसकी अनन्य भक्ति की भिक्षा माँगने को आए

थे। आप ऐसा आशीर्वाद दो जिससे उसके चरणारविंदों से हमारा मन अलग न हो।"

"हाँ यजमान ठीक है। परंतु अटके और खिचड़ी का कुछ प्रबंध अवश्य होना चाहिए। इससे आपका नाम होगा।"

"महाराज, अटका खिचड़ी तो ठीक ही है। हमने भक्त-शिरोमणि करमाबाई और मलूकदास बाबा के दर्शन कर लिए। महाराज विश्वंभर को भरने की किसी में सामर्थ्य नहीं इस-लिये यदि आप उचित समझें, यदि आप प्रसन्नता से आज्ञा दें तो मेरे मन में एक नया विचार उत्पन्न हुआ है। आशा है कि आप अवश्य स्वीकार करेंगे। मेरी राय यह है कि इस अटके और खिचड़ी में जितना द्रव्य लगता है उतना ही अथवा उससे मेरी शक्ति भर कुछ अधिक द्रव्य अलग रखें, उसमें आप भी अपने पास से यथाशक्ति कुछ देकर, अपने यात्रियों से दिलाकर, अन्यान्य पंडों को उत्तेजित करके इसी तरह अच्छी पूँजी इकट्ठी कर लें। जितने यात्री यहाँ आते हैं सबको समझाकर इस कार्य में सहायता लें तो इन कोढ़ियों को रहने के लिये छाया का मकान, पहनने ओढ़ने के लिये कपड़े, भोजन को महाप्रसाद और इलाज तथा सेवा शुश्रूषा के लिये योग्य वैद्य और परिचारक मिल सकते हैं। ऐसी सेवा शुश्रूषा से इनके दैहिक कष्ट कम होंगे, महाप्रसाद से इनका अंतःकरण विमल होगा और तब प्रभु चरणों में लौ लगने से इनका उद्धार होगा।"

"उत्तम परामर्श है। मैं सिर के बल तैयार हूँ। आपकी की हुई भेंट और अटका खिचड़ी का खर्च मिलाकर तो यह और इससे अधिक सौ दो सौ और भी मिला दूँगा। आज पीछे जितने यजमान यहां आकर मुझे देंगे उसमें से पांच रुपया सैकड़ा दूँगा। यात्रियों में से इस कार्य के लिये जो कुछ मिल जाय वह अलग। मैं अपने और भाइयों को भी उत्तेजना दूँगा। आपने ऐसी सलाह देकर बड़ा उपकार किया।"

"महाराज, आप हिंदी बहुत शुद्ध बोलते हैं। इस देश में ऐसी हिंदी! यहाँ तो उड़िया की "आशो! आशो!" चाहिए।"

"मैंने हिंदी पढ़ी है। मैं हिंदी के ग्रंथ और समाचार पत्र पढ़ा करता हूँ। यों भला मुझे तो हिंदी से प्रेम ही है किंतु यहाँ नगर भर में फिरकर देखिए। यात्रियों में बंगाली हैं, गुजराती हैं, मराठे हैं, मदरासी हैं, पंजाबी हैं और प्रायः सब ही प्रांत के लोग आते हैं। ऐसे समय हिंदी जाने बिना गुजारा नहीं। ये लोग आपस में बातचीत करते समय हिंदी की शरण लेते हैं क्योंकि न तो एक मदरासी की बात पंजाबी समझ सकता है और न मराठे की बंगाली। लाचार हम लोगों को हिंदी सीखनी पड़ती है। हमारे जाति भाई और हमारे नौकर चाकर सब टूटी फूटी हिंदी बोल लेते हैं।"

"हाँ! इसी लिये हिंदी किसी दिन भारतवर्ष की सार्वजनिक भाषा बनने के योग्य है। बन भी रही है। प्रकृति स्वयं उसकी उन्नति कर रही है।"

इतनी बातचीत हो चुकने के अनंतर पंडित जी का मन यात्रियों से अपने संगी साथियों से संभाषण में महाप्रसाद की अवज्ञा पर, मत्स्यभक्षण के दोषों पर जो संभाषण हुआ था उसका प्रसंग छिड़ा। गुरूजी ने मस्तक झुकाकर इन दोषों को स्वीकार किया। अंत में कहा—

"ये बातें अवश्य मेटने योग्य हैं। उन्हें शीघ्र ही मिटाना चाहिए किंतु इसके लिये बहुत भारी उद्योग की आवश्यकता है। हथेली पर सरसों जमाने से काम न चलेगा। पीढ़ियों से पड़ा हुआ अभ्यास छुड़ाना है। यदि आप ही यहाँ दो चार महीना निवास करें तो काम शीघ्र हो सकता है। शक्ति भर सहायता देने और प्रयत्न करने को मैं तैयार हूँ किंतु आप जैसे पंडित की आवश्यकता है।"

इस पर पंडित जी का मन पिघल गया। नौकरी भले ही बिगड़ जाय परंतु यहाँ रहने को वे तैयार हुए। साथियों ने उनको बहुतेरा समझाया किंतु उनके मन में अब यहाँ रहकर कर्तव्य स्थिर करने के लिये विचार-तरंगें उठने लगीं। उन्होंने किसी की कुछ न सुनकर बँधे बँधाए बिस्तरे खोल देने की भोला को आज्ञा दे दी। ऐसे जनरैली हुक्म के समय प्रियंवदा का क्या साहस जो उन्हें रोक सके। बिचारा भोला यदि कुछ कहे तो उसके लिये फटकार की पोशाक मिल जाय। औरों की भी इस समय ताब नहीं जो कुछ कह सकें। किंतु अंत में होता वही है जो परमेश्वर को

स्वीकार होता है। जब भगवान् जगदीश की ही ऐसी इच्छा है तब कोई क्या कर सकता है? इस प्रकार जिस समय अपना असबाब खोलकर गाड़ीवालों को विदा करके वहाँ ठहरने की ये तैयारी कर रहे थे तब ही इन्हें कांतानाथ का तार मिला। तार में क्या लिखा था सो इन्होंने किसी को बतलाया नहीं। प्रियंवदा भी इनकी ओर निहार निहारकर बारंबार आँखों ही आँखों में पूछती पूछती रह गई परंतु "कोई चिंता की बात नहीं। सब आनंद ही आनंद है" के सिवाय इन्होंने कुछ न कहा और फिर सामान गाड़ियों पर लदवाकर स्टेशन की ओर कूच कर दिया।

पुरी से बिदा होकर पहले इनका दक्षिण की यात्रा करने का दृढ़ संकल्प था। इन्होंने अपने साथियों से यह कह भी दिया था किंतु इस तार ने इनका मनसूबा बदल दिया। "भगवान् की इच्छा ही जब ऐसी है तब हमारा क्या चारा? वह नटमर्कट की तरह सब को नचाता है। हम विचारे किस गिनती में।" कहकर यह चुप हो गए। अब आँखों में से आँसुओं की धारा बह रही है, यह गाड़ी में सवार हुए हैं और इनका शरीर भी आगे बढ़ रहा है किंतु इनके मुख के भाव से बोध होता है कि मानों यह अपने हृदय को पीछे ही छोड़ आए हैं। इन्होंने खिड़की में से सिर बाहर निकाल रखा है और वे एकदम पलकें न मारकर "नील चक्र" पर नेत्र गाड़े चले जा रहे हैं। पहले तो साधारण दृष्टि से

उसके दर्शन होते रहे, फिर जरा जोर मारने से होने लगे और एक क्षण भर में नील चक्र दृष्टि-मर्यादा से बाहर हो गया। उसने मानो कह दिया कि "जाओ। इतने ही पर संतोष करो। जो पूँजी तुम्हें मिली है यदि भक्तिपूर्वक उसकी वृद्धि करोगे तो वह भी कम नहीं है।" परंतु पंडित जी ने जिसे एक बार पकड़ा उसे वे छोड़नेवाले नहीं। भगवत् चरणारविंद यदि सुकृत से, सौभाग्य से मिल जायँ तो छोड़ने योग्य भी नहीं। पृथ्वी में, आकाश में, पाताल में, स्वर्ग में और उससे भी ऊपर गोलोक में परमेश्वर के पादपद्मों से बढ़कर कोई नहीं। बस इसलिये इन्होंने महात्मा सूरदासजी का—

"बाँह छुड़ाकर जात हौ, निबल जान कर मोंहि।
हिरदा में सों जायगो, मरद बदौंगो तोहि॥"

यह दोहा याद करके बस इसी बात के प्रयत्न में अपना मन लगाया। मन स्थिर होते ही जब इन्हें कुछ ढाढ़स हुआ तब इनकी ऐसी ऐसी विचित्र चेष्टाओं को देखकर घबड़ाई हुई प्रियंवदा को इन्होंने धीरज दिया, गौड़बोले की उद्विग्नता मेटी और औरों को भी संतुष्ट किया। पाठकों ने समझ लिया होगा कि पंडित जी इसके पूर्व विह्वल हो गए थे। वास्तव में वह किसी लिये हों किंतु थे विह्वल और इसी लिये टिकिट लेने का काम गौड़बोले ने किया। वह भी घबड़ाहट में थे और रेल की पहली घंटी हो चुकी थी इसी लिये दंपती के लिये उन्होंने इंटर क्लास के टिकिट लेने की जगह थर्ड के

टिकिट लिए और यों सब लोगों को एक ही दर्जे में बैठने का अवसर मिल गया।

अब पंडित जी भगवान् का स्मरण करते, जगदीश की मूर्ति में ध्यान लगाए, कभी बातें करते और बीच बीच में रुक रुककर ध्यान-मग्न होते हुए आगे बढ़ने लगे। सच-मुच ही पंडित जी ने नेत्र संचालन के प्रेम-संकेत से अपनी चिर परिचित लोचनों की भाषा से प्रियंवदा को संतुष्ट कर दिया था किंतु जब तक उनकी गौड़बोले से धाराप्रवाह वक्तृता न आरंभ हुई थी वह मन ही मन मन को मसोसती रही। अब उसके जी में जी आया।

प्रकरण—५१

कांता पर कलंक

पंडित रमाकांत शास्त्री ने लड़कों को पढ़ा लिखाकर रुपया कमाने में प्रवीण कर दिया था, वर्णाश्रम धर्म के सिद्धांत उनके हृदय पटल पर अंकित कर दिए थे, इहलौकिक और पारलौकिक ज्ञान उनके मन में इस रीति से ठसा दिया था कि वे कभी ठोकर न खायँ और कभी भलाई छोड़कर बुराई की ओर एक पैर भी न बढ़ें। इतना होने पर भी उन्हें इस बात का खटका था कि कहीं युगधर्म बालकों पर अपना असर डालकर उन्हें रुपए पैसे के लिये आपस के लड़ाई झगड़े में न प्रवृत्त करे, जवान होते ही अपनी अपनी जोरुओं को लेकर बेटे अलग न हो बैठें। यदि पड़ोसियों से लड़ाई झगड़ा रहा तो आदमी ने पैदा होकर ही क्या किया? यदि कुल के, जाति के, बस्ती के और हो सके तो देश के चार सज्जनों ने जिसकी प्रशंसा न की उसका जन्म लेना निरर्थक है। वह कहा करते थे—

"गुणिगणगणनारंभे न पतति कठिनी सुसंभ्रमाद्यस्य।
तस्यांबा यदि सुतिनी वद वंध्या कीदृशी भवति॥"

इस श्लोक को दिन भर में कम से कम एक दो बार पढ़ाकर वह बेटों को समझाया करते थे कि "यदि तुमने जन्म लेकर गुणवानों में गणना न करवाई, यदि गुणवानों की

गणना करते हुए तुम्हारे नाम के साथ गिननेवाले का अँगूठा अँगुलियों की पोरों पर न पड़ा तो तुमने झख मारा, योंही अपनी माता को नौ महीने तक असह्य वेदना दी, तुम्हारे लालन-पालन में वृथा ही उसने पीड़ा पाई और तुम्हारा खिलाया, पिलाया, पढ़ाया, लिखाया सब फिजूल गया।" माता उनकी चाहे पढ़ी लिखी न हों किंतु पति के साथ, पुत्रों के साथ, पड़ोसियों के साथ और नौकरों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए घर गृहस्थी में रहकर क्योंकर अपनी बात निबाहनी होती है और को शरीर धारण करके उनका कर्तव्य क्या है, इन बातों को वह अच्छी तरह जानती थीं और सदा इन्हीं के अनुसार चला करती थीं। चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषण आदि बुराइयों से उसे पूर्ण घृणा थी और वह सदा इसी विचार में रहती थी कि कहीं मेरे नन्हों में ऐसे ऐसे ऐब न पैदा हो जायँ। यद्यपि अपनी जन्मदात्री माता का सुख इन दोनों भाइयों के नसीब में नहीं था क्योंकि वह दोनों ही को बिलबिलाते छोड़कर छोटी उमर में चल बसी थीं किंतु जब बूढ़ी दुलरिया ने ही इनको पाल पोसकर इन गुणों से भूषित कर दिया तब उसे माता से भी बढ़कर इन्हें समझना चाहिए क्योंकि अपनी असली माता के जो गुण इन्हें धरोहर मिले थे उन पर बुढ़िया ने ओप चढ़ा दिया।

ऐसे सज्जन माता पिता की संतान होने पर भी, सदा भाई भाई के संयुक्त रहने की सलाह देने पर भी, संयुक्त कुटुंब के

लाभ समझाते रहने पर भी वे डरते थे कि कहीं बहुओं की बदौलत अथवा पैसे के लिये ये आपस में उलझ न पड़ें, इस-लिये उन्होंने अपने जीते जी अपने माल ताल का, अपने धन दौलत का, बाग मकान का, लेने देने का और जमींदारी का बटवारा कर दिया था। उनके लिये मकान इस ढंग के बनवा दिए थे जिनमें यदि वे अलग अलग रहें तो भी सुख से रह सकें, लड़ाई हो जाय तो एक की दूसरे पर परछाँही तक न पड़े और मिलकर रहें तब भी सब बातों की सुविधा रहे। हाँ! दो चीजों के हिस्से नहीं किए थे। एक ठाकुर-सेवा और दूसरा पुस्तकालय। इनके लिये उनकी यह आज्ञा थी कि—

"यह तुम्हारी संयुक्त संपत्ति है। जो योग्य हो, जिसको आंतरिक भक्ति हो उसी का इन पर अधिकार है। नास्तिक को ठाकुर-सेवा देना कौवे को कपूर चुगाना है और निरक्षर भट्टाचार्य के पाले यदि मेरी पुस्तकें पड़ जायँ तो पंसारियों के यहाँ बिकती फिरें।" केवल यही क्यों? उन्होंने इनके लिये अलग जीविका निकालकर ऐसा स्वतंत्र प्रबंध कर दिया था जिससे ठाकुर-सेवा अच्छी तरह होती रहे और पुस्तकालय में पुस्तकों की वार्षिक वृद्धि होकर लोगों को उससे लाभ उठाने का अवसर मिले।

मकान उनके लिये जो बनाए थे वे यद्यपि ऐसे थे जिनमें घर के दस पाँच आदमी और दो चार नौकरों को स्वतंत्रता से रहने की गुंजायश थी किंतु इसके साथ शास्त्री जी इस बात

को भी नहीं भूले थे कि यदि प्रारब्धवश मेरे लड़के इतने दरिद्री हो जायँ कि उनको पनिहारी, पिसनहारी रखने तक की शक्ति न रहे तो मेरी बहू-बेटियों को जल का घड़ा सिर पर रखकर बाहर न जाना पड़े। इस कारण उन्होंने घर में कुँआ भी ऐसा खुदवा दिया था जिससे बहू-बेटियाँ घर के भीतर से अदब के साथ पानी भर सकें और ऐसे ही वह घर से बाहर-वालों के भी काम में आ सके।

जब से अपने कुकर्मों के कारण सुखदा को सजा मिली तब से पति परमात्मा उसके हाथ का बनाया भोजन नहीं करते हैं। रूखा सूखा खाना, मोटा झोटा पहनना और चटाई पर पड़ रहना, घर से बाहर कभी कदम न रखना बस ये ही उसके लिये जेलखाने की मिहनतें हैं। कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करके पति की बहुत चिरौरी करने पर, फिर ऐसा अपराध स्वप्न में भी न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करने पर पति ने उसे अपनी धोती धोने का, जूठे बरतन मल देने का अधिकार अवश्य दे दिया है। अब जब उस पर बहुत ही कृपा होती है तब वह पति की थोड़ी बहुत जूठन भी पा लेती है किंतु समझे पाठक! वह कृपा कब होती है? जब वह स्वयं अपनी आँखों से गोशाला में जाकर गौओं की सेवा में, बछड़े बछियों के लालन पालन में उसे मस्त देखते हैं। जब शास्त्रकारों ने—

"आज्ञाभंगो नरेंद्राणां ब्राह्मणानामनादरः।
पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः॥"

की व्यवस्था दी है और जब वह पति की उपस्थिति में उनके निकट रहकर भी वैधव्य भोग रही है तब उसके अंतः-करण में व्यथा तो होनी ही चाहिए किंतु फिर भी जब से उसने गोसेवा में मन लगाया है तब से वह इस दुःख को भी सुख मानकर मग्न रहती है। वह मग्न रहती है और इस आशा से आनंद में रहती है कि उसे जो सजा दी गई है वह आजीवन नहीं है। उसकी अवधि है और अवधि के दिन दिन दिन निकट आते जाते हैं।

अवश्य यह इस घर के, पति पत्नी के परस्पर बर्ताव का खाका है किंतु मथुरा का तिरस्कार होने के दिन से जब उसके पास स्त्रियों का आना जाना बंद है तब लोगों को क्या मालूम कि वे आपस में किस तरह बरतते हैं। कोई पत्नी के पैरों में बेड़ियाँ डालकर नित्य उसके दस जूते मारने की दुहाई देती है और कोई कोई यहाँ तक कह डालती हैं कि वह बिचारी दाने दाने को तरस रही है। आठ पहर में एक बार रूखी सूखी मिल गई नहीं तो योंही भूखों मरते अपने घटते दिन पूरे किया करती है। इस प्रकार की बातें उड़ाना, यों कह करके पतिपत्नी की धूल उड़ा डालना जिसने ग्रहण किया है वह यदि आटा बाँध कर उनके पीछे पड़ जाय तो क्या आश्चर्य? उसने तलाश कर करके दो चार ऐसी औरतें खड़ी कर ली हैं जो इनके घर की झूठी मूठी बातें गढ़कर उन पर खूब रंग जमाती हैं। "हलदी लगै न फिटकरी रंग चोखा आवे।"

इस कहावत के अनुसार रंग भी अच्छा जम गया है। अब कोई कहती है—"हमने अपनी आँखों से उसे जुतियाते देखा है।" किसी का कहना है—"हाँ! हाँ! पिटते पिटते उसके सिर के बाल उड़ गए।" इनके बीच में पति का पक्ष लेकर कोई कोई कसम खाने तक को तैयार हैं—"मारे नहीं तो क्या करे? वह अब भी हरामजादी इधर उधर ताक झाँक लगाने से बाज नहीं आती।" एक बार एक आदमी ने कह दिया कि मेरे पेट में से कौवे का पर निकला। कौवे का पर पेट में से निकला नहीं था। वहाँ पड़ा देखकर यों ही उसे भ्रम हो गया था। किंतु जब यह खबर लोगों के कानों पर पड़ी तो एक से दो, दो से चार और यों ही बढ़ते बढ़ते सौ पर हो गए। पर से कौवे बन गए। बस यही दशा इन दंपती की है।

इस तरह बस्ती भर में इनकी निंदा के तह पर तह चढ़ाए जा रहे हैं किंतु इन दोनों को बिलकुल खबर नहीं कि हमारे लिये लोगों ने किस तरह बात का बतंगड़ बना रखा है, कैसे हमारी फजीहती की जा रही है। बस इसी लिये ऊपर लिखा जा चुका है कि दंपती अपने अपने हाल खयाल में मस्त हैं। उन्हें अपने काम से काम है। दुनिया के झगड़ों से कुछ मतलब नहीं। फिर पति को घरधंधों के आगे, अपने काम काज के मारे इतना अवकाश भी तो नहीं मिलता कि किसी के पास दस मिनट बैठकर इधर उधर की गप्पें तो सुन लिया करें।

खैर ! वह इस तरह से चुप हैं तो रहने दीजिए किंतु जब मथुरा उन दोनों के पीछे पड़ी है तब वह चुप कैसे रह सकती है। आज उसे अकस्मात् मसाला भी अच्छा मिल गया। इनकी एक पड़ोसिन ने भोर ही पनघट के कुँए पर बस्ती के बाहर जल भरते भरते दस बारह पनिहारिनों के सामने मथुरा से कहा—"वीर ! आज रात को हमारे पड़ोस में न मालूम धमाका किसका हुआ था ? ऐसा धमाका कि मैं तो भरी नींद में चौंक पड़ी। निपूती तब से नींद भी न आई।" बस इसका यह मतलब निकाला गया कि पति ने मारकर अपनी जोरू को कुँए में गिरा दिया अथवा पिटते पिटते घबड़ाकर वही कुँए में गिर पड़ी। बस बिजली की चमक की तरह घंटे भर में यह बात सारी बस्ती में फैल गई। इस पर खूब ही रंग चढ़ा, यहाँ तक कि थाने में रिपोर्ट करने लोग दौड़े गए। तीन मील चलकर एक साहब पंडित प्रियानाथ को तार देने दौड़े गए और कितने ही महाशय इस बात का भेद लेने के लिये, कई एक कांतानाथ से सहानुभूति करने के लिये और बहुत से नर नारी तमाशा देखने के लिये पंडित जी के मकान के द्वार पर इकट्ठे हो गए।

बस पंडित प्रियानाथ के पास पुरी से बिदा होते समय जो तार पहुँचा था वह उन्हीं साहब का दिया हुआ था। तारबाबू ने कांतानाथ के नाम से दिया हुआ तार दूसरे के हाथ से लेने में थोड़ी बहुत हुज्जत भी की थी किंतु पंडित जी

से उसका स्नेह और यह उनके घर का मामला, इसलिये वह तार को रोक न सका। जिस तार को पढ़कर उन्होंने दक्षिण यात्रा बंद कर दी उसमें लिखा था—

"मेरी स्त्री कुँए में गिरकर मर गई। बड़ी भारी आफत है। मार डालने का इलजाम मुझ पर लगाया गया है। फौरन आओ।"

इस तार को पाकर पंडित जी ने क्या किया, इससे उनकी दशा क्या हुई, सो गत प्रकरण में लिखा जा चुका है। हाँ उन्होंने जब अभी तक यह नहीं बतलाया कि तार को पढ़कर उनके मन में क्या बात पैदा हुई, उन्होंने इस तार को सच्चा समझा है अथवा नितांत मिथ्या, और जब केवल अटकल लगाने के सिवाय उनकी अर्द्धांगिनी प्रियंवदा तक उनके मन का भेद नहीं जान सकी है तब जब तक वह अपने मुँह से न कह दें कौन कह सकता है कि उनको घबराहट केवल इस तार को पाने से थी अथवा श्री जगदीश के चरणों के वियोग से वह व्याकुल थे। इनमें से कोई एक बात भी हो सकती है और दोनों संयुक्त भी।

खैर! इस यात्रापार्टी को अभी इस उधेड़बुन में पड़े रहने दीजिए, यदि पंडित जी अपनी धुन में सवार होकर रेल में सवार हुए अपने घर की ओर आ रहे हैं तो आने दीजिए किंतु अब भी उनके पिता के उपकारों को याद करके, उनके आतंक से डरकर और कांतानाथ की लात से घबड़ाकर

और सबसे बढ़कर पुलिस के भय से उनके द्वार पर इतनी भीड़ इकट्ठी होने पर भी किसी का यह हियाव नहीं होता कि वह उनके मकान की चौखट के भीतर तो पैर रख सके।

किंतु वास्तव में आज मामला क्या है? जिस बैठक में अब तक दस बीस आदमी आए और चले गए होते, जिसमें आसामियों की, कामकाजियों की और लेन देनवालों की प्रातःकाल से आवा जाही लगी रहती है उसका दस बजे तक किवाड़ा क्यों बंद है? घर का किवाड़ बंद होकर भीतर से साँकल चढ़ रही है और आदमियों के भीतर फिरने डोलने तक की आहट नहीं। हाँ! भीतर से कभी कभी सुरीली आवाज से कुछ गाने अथवा योंही गुनगुनाने की भनक अवश्य आ रही है परंतु इसका मतलब क्या? जिस समय वहाँ खड़े हुए नर नारी इस प्रकार तर्क पर तर्क लगाकर अपने संदेह को पक्का कर रहे थे उस समय भीड़ को अपनी डाँट डपट से डराती, इस तरह मैदान करती पुलिस आ पहुँची। अब एक, दो, दस, बीस कई एक आवाजें दी गईं परंतु जवाब नहीं। तब बढ़ई को बुलाकर किवाड़ तोड़ा गया। पुलिस ने कुँए के पास जाकर उसमें बिल्ली डाली परंतु थोड़े बहुत कूड़े करकट के सिवाय बिल्ली खाली। यद्यपि घर की तलाशी लेने के लिये पुलिस जाकर जनाने और मर्दाने मकानों को देख सकती थी, जो मुकद्दमे पुलिस की दस्तंदाजी के हैं उनमें उसके अधिकार अपरिमित हैं किंतु चाहे संकोच

से कहो चाहे कुँए में कुछ न पाने से उसका संदेह दुबला पड़ गया था, इसलिये भीतर जाने में उसे शंका हुई और इसी विचार में उसने कोई बीस मिनट तक चुपचाप खड़ी रहने के सिवाय कुछ न किया।

इस अवसर में कांतानाथ बाहर से आए। वह शायद रात से ही कहीं गए थे। उन बिचारों को मालूम नहीं कि शत्रुओं ने इस तरह उन पर आफत बरसाने का प्रपंच खड़ा किया है। यद्यपि उन्हें आफत की परकाला मथुरा से खटका रहा करता था परंतु उनकी समझ में न आया कि आज उनके मकान में इतनी भीड़ क्यों है? अस्तु भीड़ तो भीड़ परंतु जब उनकी दृष्टि लाल साफे पर पड़ी तब वह एकदम हक्केबक्के से रह गए। इस घटना को देखकर वह घबड़ाए भी सही, शायद उन्हें उस समय कोई ढाढ़स दिलानेवाला होता तो वह रो पड़ते किंतु उन्होंने अपनी तबियत सँभाली, जी कड़ा किया और तब एक डाँट बतलाकर वह बोले—

"हैं हैं! दीवान जी साहब आज यह क्या बला है? क्या डाँका पड़ गया? या कोई खून हुआ है? आज इस सरगर्मी के साथ?"

"नहीं! डाँका नहीं पड़ा! खून बतलाया जाता है। और उसके मुलजिम आप ही गरदाने गए हैं। इस आदमी (एक को दिखाकर) ने रिपोर्ट की है कि आपने अपनी जोरू का खून करके उसे कुँए में डाल दिया।"

"हैं मैंने ? क्यों ? ऐसी क्या आफत पड़ी थी जो मैं एक औरत की जान लेता ? खैर ! कुँए से लाश बरामद हो गई ? अगर हो गई हो तो मेरा चालान कीजिए।"

"अजी हजरत, ऐसी टेढ़ी टेढ़ी बातें क्यों करते हैं ? जरा सँभलकर बात कीजिए। अगर लाश ही बरामद हो जाती तो कभी की हथकड़ी भर देते। मगर लाश ही बरामद न होने में आप बरी नहीं हो सकते। आपको अपनी सफाई का सुबूत देना होगा।"

"खैर ! इज्जत तो आज आपने बिगाड़ ही डाली मगर मेरे साथ अंदर चलिए। शायद लाश ही अपना जवाब आप दे लें !" यों कहकर कांतानाथ दीवान जी का हाथ पकड़े हुए जनाने मकान में जाकर बोले—

"अच्छा बोल री लाश, तुझे किसने मारा ?" उनके ऐसा सवाल करने पर परदे की ओट से जवाब आया—"कौन निपूता मुझे मारनेवाला है ? मैं तो अभी सौ वर्ष जिऊँगी।" आवाज सुनते ही पुलिस शर्मा गई, रिपोर्ट देनेवाले का खून सूख गया और भीड़ भाग गई। "अब भी आपको शक हो तो उस लाश को बाहर भी बुलवा सकता हूँ। खैर, पर्दा तो बिगड़ ही गया। अब बाहर बुलवाने में क्या हर्ज है ?"

"नहीं ! जरूरत नहीं। यह हमारे गाँव की लड़की है, इनके वालिद और मेरे वालिद से खूब जान पहचान थी। मैंने सैकड़ों बार देखा भाला है। आवाज पहचान ली।"

"अच्छा! उसी रिश्ते से आज आप अपनी बहन को यह नेग देने आए हैं। बड़ी इनायत की।" इस पर दीवान जी कुछ झेंपे। उन्होंने अपने मन को संतुष्ट करने के लिये एक औरत भीतर भेजी परंतु जब उसने भी भीतर से आकर यही उत्तर दिया—"हाँ पंडित वृंदावनविहारी की बेटी और इनकी बहू सुखदा है।" तब शर्माते हुए—"आपको तकलीफ हुई। मुआफ कीजिए। मैं भी मजबूर था। मैंने अपना फर्ज समझकर अदा किया और सो भी इस बदमाश के रिपोर्ट करने पर।" "नहीं कुछ हर्ज नहीं। आपका कोई कसूर नहीं। लेकिन लाला जी तुम तो मिठाई लेते जाओ।" कहकर कांतानाथ ने रिपोर्ट देनेवाले की खूब गत बनाई और इस तरह जब भीड़ छट गई तब भीतर जाकर "तैने खूब काम किया! शाबाश! आज से तेरे सब अपराध क्षमा। भाई से पूछकर तेरा अंगीकार।" कहते हुए वह दबे पाँव बाहर निकले और इस घटना का पूरा हाल सुनकर दौड़े हुए तारघर पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने संक्षेप से बड़े भैया को तार दिया और तब घर लौटकर भोजन किया।

प्रकरण—५२

अपकार के बदले उपकार

"मुआ ऐसा भी क्या आदमी जिसने दुःख दे देकर मेरी बेटी का सारा डील सुखा डाला !"

"हाँ ! बिचारी को न पेट भर खाने को मिलता है और न पहनने को अच्छा सा कपड़ा !"

"बेशक ! सूखकर काँटा हो गई। एक एक हड्डी हड्डी गिन लो।"

"आदमी नहीं ! भूत है ! जिन्न है। राकस है ! पत्थर से भी कठोर !"

"हाँ हाँ ! देखो तो सही गरीब का बदन सूखकर पिंजर निकल आया !"

कार्तिक शुक्ला प्रबोधिनी एकादशी के दिन पंडित जी के मकान पर भगवान् के दर्शनों के लिये आनेवाली चार पाँच स्त्रियों ने सुखदा के पास आकर इस तरह उसके साथ सहानुभूति प्रकाशित की। ये औरतें और कोई नहीं, इनकी किसी न किसी प्रकार से दूर की और पास की नातेदार थीं। उनकी हमदर्दी सच्ची थी अथवा सुखदा का मन टटोलने के लिये ही वे आई थीं सो कहने से कुछ लाभ नहीं किंतु पंडित कांतानाथ

की स्त्री ने उनको जो उत्तर दिया वह यहाँ उल्लेख कर देने योग्य है। उसने कहा—

"नहीं जी! मैं दुबली कहाँ हूँ? अच्छी खासी, मोटी मुस्टंडी हूँ। और खाते खाते ही सूख जाऊँ तो किसी का क्या वश? और जो दुबली भी होऊँ, मर ही क्यों न जाऊँ तो किसी को क्या? मैं बुरी हूँ तो (आँखें तिरछी करके, इशारे से समझाती हुई और तब लाज से मुँह को आँचल की ओट करके) इनकी स्वामी, चरणों की चाकर—और भली हूँ तो उनकी। वह हजार मारेंगे और एक गिनेंगे। तुम्हें क्या मतलब? मारें तो वह मेरे मालिक और प्यार करेंगे तो मालिक! भगवान् ऐसा मालिक सबको दे! मेरे स्वामी हैं। मैंने कभी कुसूर किया तो सजा भी पा ली। तुमको तुम्हारे आदमियों ने मारा पीटा, यहाँ तक कि (एक की ओर इंगित करके) इनको तो जूते मारकर घर से निकाल दिया था तब मैं किसके पास सुख पूछने गई थी जो आज मेरे पास भली बनकर तुम सब थाह लेने आई हो? तुम भी क्या करो? सारा कुसूर इस हरामजादी मथुरा का है! इसी ने झूठी मूठी बातें बनाकर मुझे बदनाम कर डाला। मैं फिर भी कहती हूँ (मथुरा से) तू अपना भला चाहती है तो अभी घर से निकल जा। नहीं तो जो उन्हें खबर हो गई तो अभी तेरी गत बना डालेंगे। आदमी हैं। गुस्सा बुरा होता है।"

इनकी बातचीत किवाड़ की ओट से कांतानाथ सुन रहे थे। किसी को कुछ खबर न हो इसलिये उन्होंने चुपचाप

साँस खैंचकर सारी बातें सुनीं। बेशक उनका इरादा नहीं था कि वे इनकी बातों में जाकर दखल देवें किंतु मथुरा का नाम आते ही इनका क्रोध भड़क उठा। इन्होंने ज्यों ज्यों उसे रोका त्यों त्यों वह अधिक अधिक ज्वालाएँ छोड़ने लगा। बस किवाड़ को एक ही धक्का देकर खोलते हुए गुस्से से लाल लाल होकर यह भीतर घुसे। इनकी विकराल मूर्ति देखकर सबके होश उड़ गए। वे सब की सब भागीं और ऐसी भागीं कि किसी का रूमाल गिर गया, किसी का बटुआ गिर पड़ा और यहाँ तक कि किसी की पायजेब निकल गई। इनमें से दो एक उलझ उलझाकर गिर भी पड़ीं और एकाध का सिर भी फूट गया किंतु इस भाग दौड़ में मथुरा की चोटी इनके हाथ आ गई। यह उसे खैंचकर उसकी लातों से पूजा करने ही वाले थे। उसकी गत बनने में कुछ कसर बाकी नहीं थी। क्रोध बहुत बुरी बला है। हृदय में उसका प्रवेश होते ही बुद्धि भाग जाती है, ज्ञान का नाश हो जाया करता है। इसी लिये अनुभवी विद्वानों ने इसको भूत की उपमा दी है। वास्तव में यदि क्रोध का भूत सवार हो जाने से पंडित जी उसके एकाध हाथ मार बैठते तो बड़ा गजब हो जाता। वह चाहे जैसी पापिनी क्यों न हो, उसने इनका कितना ही अपकार क्यों न किया हो किंतु स्त्री जाति पर हाथ उठाना घोर अनर्थ है। खैर किसी तरह के पाप कर्म में प्रवृत्त होते समय जैसे मनुष्य का अंत:करण, उसकी बुद्धि मन का हाथ पकड़ लिया करती है,

जैसे एक बार वह ऐसा काम न करने की चितौनी देती है वैसे ही इनके मन को मचलते हुए, चौकड़ी भरते हुए घोड़े की बाग उसने पकड़ ली। जूते समेत लात और घूँसा बँधा हुआ हाथ इन्होंने उठाया तो सही किंतु एकदम कुछ विचार आते ही यह सँभले और उसके शरीर की ओर देखते ही इनका क्रोध दया में बदल गया—

"राम राम ! बड़ा अनर्थ हो जाता ! जाने दो राँड को ! परमेश्वर इसे दंड दे रहा है। इससे भी बढ़कर देगा। इसके शरीर में कोढ़ चू उठा। इससे बढ़कर क्या दंड होगा !" कहते हुए इन्होंने अपना हाथ और पैर समेट लिया और वह भी समय पाकर अपनी जान लिए हुए ऐसी भगी कि मुद्दत तक उसकी शकल भी न दिखलाई दी। कोई वर्ष दो वर्ष के अनंतर यदि वह दिखलाई भी दी तो कोढ़ के मारे उसकी अँगुलियाँ गल गई थीं। तमाम बदन फूट निकला था। मक्खियाँ काट काटकर उसे कल नहीं लेने देती थीं और दुर्गंधि के मारे किसी से उसके पास होकर निकला तक नहीं जाता था। खैर उसने जैसा किया वैसा पा लिया। जो बबूल बोता है उसे काँटे ही मिलते हैं, आम नहीं। यह इन लोगों की भलाई है कि उसके इतने अपकार का बदला इन्होंने उपकार में दिया। जब तक उसके शरीर में प्राण रहे, उसके पापी प्राण वास्तव में बड़े ही घोर कष्ट भोगकर निकले, इन्होंने उसके खाने पीने का, पहनने ओढ़ने का

और दवा दारू का प्रबंध कर दिया और जब उसका शरीर कीड़े पड़ पड़कर, दम घुट घुटकर बड़ी मुशकिल से घोर नरक यातना भोगकर छूटा तब उसे गड़वा दिया और उसके मरने के बाद उसका कर्म करवा दिया। अपकार के बदले उपकार करने का यही नमूना है, जो जैसा करता है वह वैसा पा लेता है। इसे साबित कर देने के लिये यही प्रमाण है। अस्तु इस बात से इस किस्से का विशेष संबंध नहीं। यदि संबंध भी हो तो विशेष कागज रँगने से पुस्तक की मोटाई बढ़ जायगी। इसलिये इतना ही बहुत है। यहाँ यह अवश्य लिख देना चाहिए कि जिसका जो कुछ गिरा था वह आदमी के हाथ उसके मकान पर भेज दिया गया और जब उसके घरवालों को इस बात की खबर हुई तब उन्होंने अपनी अपनी स्त्रियों को फटकारा भी खूब। खैर! इस तरह जब मथुरा अपनी जान लेकर भाग निकली तब पति ने पत्नी से कहा—

"बेशक, अब तू सँभल गई। इतने दिनों के कठिन व्रत ने तुझे सँभाल लिया। परमेश्वर ने तुझे बचाया। वही सब की लाज रखनेवाला है। भाई साहब भी अब शीघ्र ही आने वाले हैं। अब विशेष विलंब का काम नहीं। घबड़ाना मत!"

"यह सब आपके चरणों का प्रताप है! मेरे तो भगवान् भी आप और आप भी आप! नहीं जी! इतने दिन न घब-

ड़ाई तो अब क्या घबड़ाऊँगी ? अब वे दोनों आने ही वाले हैं। वे जैसी आज्ञा दें वैसा करने को तैयार हूँ। उनसे भी अपने कुसूरों के लिये मुआफी माँगूँगी।"

इतना कहते हुए सुखदा रोने लगी। पति ने धीरज दिलाकर दिलासे के वचन कहकर उसको संतुष्ट किया और तब वह अपने काम काज में प्रवृत्त हुए। ऐसे कांतानाथ अपने काम में लग ही गए तो क्या हुआ किंतु उनके अंतःकरण में एक तरह का खटका हो गया। अब उन्हें दो बातों की चिंता थी। एक इस प्रकार की बदनामी उड़ानेवाले कौन कौन हैं और दूसरे हमारे लिये सर्व साधारण की राय क्या है ? जब से वह अधबिच में यात्रा छोड़कर घर आए उन्होंने अपने काम काज में विशेष जी लगाकर, नए नए काम खोलने में प्रवृत्त होकर लोगों से मिलने भेंटने से मन खैंच लिया था। संसार का मुख्य सुख, यावत् सुखों का केंद्र स्त्री और उसके ऐसे कुकर्म। बस इन बातों को याद करके वह एक तरह दुनिया ही से उदासीन हो गए थे। क्योंकि अपने नित्य और नैमित्तिक काम में दिन रात उलझे रहने के सिवाय यदि वह जरा सा भी अपने जी को किसी तरफ लगाते तो उनके सामने स्त्री के कर्म, उसको दंड इत्यादि बातें आ खड़ी होती थीं। वह अपने भाव को बहुतेरा छिपाते किंतु जो बात मन में होती है मुख उसकी चुगली खा दिया करता है। लोगों से न मिलने जुलने का एक यही प्रधान कारण था।

अस्तु, अब उक्त प्रश्नों ने उनके अंतःकरण को दबाया। अब देवदर्शनों में, काम काज में वह लोगों से मिलने लगे। जिनसे राह में भेंट होने पर वह कतरा जाया करते थे उनसे खड़े होकर बातचीत करने लगे। कान लगा लगाकर इधर उधर की बातें सुनने लगे। परिणाम इसका यह हुआ कि इनके प्रश्नों का इन्हें यथार्थ उत्तर मिल गया। इन्होंने निश्चय कर लिया कि बदनामी करनेवालों की बदनामी है। लोग उन्हीं के जीवन पर थूकते हैं, यहाँ तक कि जो तार देनेवाला था तथा जिसने पुलिस में रिपोर्ट की थी उन्हें कोई भला आदमी पास बैठने नहीं देता है। जहाँ ये लोग जाते हैं वहीं से दुतकारे जाते हैं। यदि यह घटना न होती तो शायद लोगों के मन पर कांतानाथ की, उनकी सुखदा की बुराइयां बनी रहतीं किंतु कपड़े की मैल जैसे धोबी की भट्टी में पड़कर उबाले जाने से निकल जाती है वैसे ही इस घटना ने दंपती के चरित्र को स्वच्छ कर दिया, उज्ज्वल कर डाला, यहाँ तक कि इस घर की सज्जनता देखकर जो लोग इनकी बदनामी उड़ाने में थे वे अब पछताते हैं, कितने ही लज्जा के मारे इन्हें मुँह नहीं दिखाते और कितने ही इनसे क्षमा माँगने को तैयार हैं।

लोगों का यह ढंग देखकर दो तीन आदमियों ने इनको यहाँ तक सलाह दी कि "ऐसे बदमाशों पर नालिश ठोंककर उन्हें सजा दिलानी चाहिए ताकि आगे से किसी भले आदमी की इज्जत बिगाड़ने की किसी को हिम्मत न हो।" दस बीस

आदमी अदालत में जाकर गंगा उठाने को तैयार थे और सबसे बढ़कर पुलिस का रोजनामचा इनके लिये पक्का सुबूत था किंतु यह सलाह इन्हें पसंद न आई। इन्होंने उन लोगों से खुले शब्दों में कह दिया—

"नहीं जी! यह सलाह अच्छी नहीं। उस दिन मैंने उस आदमी को मारा, इसी पर मैं पछताता हूँ। भाई साहब भी मुझसे नाराज होंगे। जैसे के साथ वैसा वर्ताव करने में हमारी शोभा नहीं। जिन्होंने बुरा किया है उन्हें परमेश्वर अवश्य दंड देगा। देख लेना। और उन्हें दंड भी न मिले तो क्या? परमेश्वर उन पर दया करे। यदि बिच्छू अपने डंक मारने की आदत न छोड़े, बेशक वह नहीं छोड़ेगा क्योंकि उसका यह स्वभाव ही है, तो हम उसकी रक्षा करने का काम क्यों छोड़ें? हिंदू उसी उदारता से, ऐसी ही दयादृष्टि से साँप बिच्छू को नहीं मारते और न मारने देते हैं। एक बार एक महाशय जलाशय के किनारे बैठे बैठे संध्या कर रहे थे। एका-एक उनकी दृष्टि जल में पड़े हुए बिच्छू पर पड़ी। उन्होंने जिस हाथ में लेकर उसे निकाला था बाहर आते ही उसने उसी पर डंक मारा। डंक मारते ही उनके हाथ से वह जल में गिर गया फिर उन्होंने दया करके उसे निकाला किंतु फिर भी डंक मारे बिना उससे न रहा गया। यों उन्होंने जैसे उसे निका-लना न छोड़ा वैसे उसने भी उन्हें डंक मारना न छोड़ा। जब ऐसे ऐसे उदाहरण हमारे सामने विद्यमान हैं, जब घोर

कलिकाल में भी हम ऐसी ऐसी अनेक घटनाएँ देखा करते हैं तब हमें चाहिए कि हम सज्जनता का, भलाई का और क्षमा करने का अनुकरण करें ।"

कांतानाथ की इन बातों ने उन लोगों का हृदय पिघला दिया। चारों ओर से वाह वाही का डंका बजने लगा, शाबाशी की आवाजें आने लगीं और धन्यवाद की बौछारें आरंभ हो गईं। उनकी दयालुता, उनकी क्षमाशीलता और उनका उदार हृदय देखकर सचमुच ही जो लोग उनकी बदनामी करने में अगुआ थे वे पछताए। उनके मन पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने कांतानाथ के चरणों में सिर आ रक्खा। "तुम्हारा कुछ दोष नहीं। समय पर ऐसी ऐसी चूक बड़ों बड़ों से हो पड़ती है। दोष हमारे नसीब का है। मैं तुम्हारा समस्त अपराध क्षमा करता हूँ। पाप का प्रायश्चित्त पश्चात्ताप ही है। इससे बढ़कर कोई नहीं, सो तुम अपने अंतःकरण से कर रहे हो। तथापि यदि हो सके, हो ही सकेगा, तो सवा लक्ष गायत्री का जप करना। इससे बढ़कर कोई उपाय नहीं।" यह कहकर जब उन दोनों को बिदा करने लगे तब इनकी पड़ोसिन बुढ़िया ने, जो कुँए की आवाज का डंका पीटनेवाली थी, इनके पैरों पड़कर कहा—

"आप चाहे मारें चाहे निवाजें। आपका मुझसे बहुत बड़ा कुसूर हो गया। मैं ही इस झगड़े की जड़ हूँ। मैंने मथुरिया के बहकाने से, उसससे एक रुपया पाने के लालच

में आकर, झूठमूठ जाहिर कर दिया। मैं न तो उस रात अपने मकान में सोई और न मैंने कोई धमाका सुना। नाराज होते होते चाहे ये दोनों मेरी जान ही क्यों न ले डालें, आगे पीछे मुझे मरना ही है, अब जीकर कहाँ तक चक्की पीसती रहूँगी, परंतु सच कहती हूँ। उस राँड़ मथुरिया का इन दोनों में ऐसा ही वास्ता है। मैं क्या कहूँ ? आपकी बदनामी इन तीनों की गोष्ठी से हुई है। झूठ मानों तो इनसे पूछ देखो।" इस पर उन दोनों ने अपना अपराध स्वीकार किया। कांता-नाथ ने उनका अपराध अवश्य क्षमा कर दिया परंतु बिरा-दरीवालों ने उनको, और बुढ़िया को जाति बाहर कर दिया। इसके अनंतर क्षय से, कोढ़ से, अन्न बिना तरस तरसकर उन लोगों की मौत हुई सो लिखकर किस्सा बढ़ाने की आवश्यकता नहीं।

प्रकरण—५३

दीनबंधु के दर्शन

उंचासवें प्रकरण के अनंतर प्राणेश्वर की धाराप्रवाह वक्तृता सुनकर यदि प्राणप्यारी को संतोष हो गया हो तो अच्छी बात है, हो जाने दीजिए। पत्नी को प्रसन्न रखना पति का प्रधान कर्तव्य है किंतु पंडित जी अब भी बातें करते करते बीच बीच में, कभी कभी रुक जाते हैं, मौन व्रत धारण कर लेते हैं और अपने कमल नयनों से दो चार आँसू गिराकर तब अर्द्ध स्फुट शब्दों से—"भगवान् की इच्छा! ईश्वर की लीला!" कहकर फिर गौड़बोले से बातों में प्रवृत्त हो जाते हैं। उनकी ऐसी दशा घंटे दो घंटे रही हो तब तो कोई बात नहीं किंतु श्री जगदीशपुरी से चले एक दिन गुजरा, एक रात गुजरी और फिर दूसरा दिन गुजरने को आया। केवल गौड़बोले से संभाषण होने ही पर यदि कोई मान ले कि उनकी विह्वलता मिट गई तो माननेवाले को अधिकार है किंतु उनके हृदय की वास्तविक विह्वलता अभी ज्यों की त्यों है। यदि कंजूस के धन की तरह पंडित जी अपने मन की बात मन में न छिपाते, साथियों के सामने प्रकाशित कर देते तो उनके मन का बोझा थोड़ा बहुत हलका भी हो जाता क्योंकि दुःख दूसरों को सुनाने में घटता और सुख बढ़ता है। औरों के

आगे प्रकट कर देने से मन के काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकार दुःख, सुख, शोक, भय इत्यादि शांत होते हैं।

कुछ भी हो किंतु पंडित प्रियानाथ यों ही करते करते अपने साथियों सहित जब मुगलसराय स्टेशन पर पहुँचे तब एकाएक इनकी दृष्टि पंडित दीनबंधु पर पड़ी। गाड़ी ठहरते ही पंडित जी उतरकर लपके हुए उनके पास गए। पहुँचकर इन्होंने उनके चरणों में सिर रख दिया। समस्त साथियों ने पारी पारी से उनको प्रणाम किया। दीनबंधु ने प्रियानाथ को उठाकर अपनी छाती से लगाया और पंडितजी के "आप यहाँ कैसे ?" इस प्रश्न के उत्तर में "इसलिये" कहकर पंडित दीनबंधु ने इनके हाथ में तार का लिफाफा दिया। इन्होंने खोलकर उसे एक बार पढ़ा, दूसरी बार पढ़ा और तब भोला के हाथ प्रियंवदा के हाथ में पहुँचाते हुए कहा—

"हे भगवन् ! तुमने बड़ी कृपा की !. हे दयासागर ! तुमने बचाया ! हे परमेश्वर ! अब जी में जी आया ! आपकी लीला अपार है। अब मुझे बोध हुआ कि आपकी इच्छा हमें दक्षिण यात्रा कराने की नहीं थी। अब सिद्ध हो गया कि आप सचमुच प्राणी मात्र को नटमर्कट की तरह नचाते हैं। आपने गीता में धुनर्धर अर्जुन को विराट् स्वरूप के दर्शन कराकर दिखला दिया है कि हम सब निमित्त मात्र हैं। होता वही है जो आपको मंजूर होता है। यह भी एक आफत थी। बिचारे को निरपराध कष्ट उठाना पड़ा। खैर, अच्छा हुआ।

जल्दी बला टल गई। भगवान्, तेरा धन्यवाद! रोम रोम से धन्यवाद!"

ऐसे पंडित जी ने, पंडितायिन ने तार पढ़कर अपना संतोष कर लिया। पंडित दीनबंधु से दोनों तार पढ़वाकर उनका संदेह निवृत्त कर दिया किंतु गौड़बोले, भगवान-दास, बुढ़िया, गोपीवल्लभ और भोला क्या जानें कि तार में क्या है? पहिले तार में क्या लिखा था सो पाठक पचासवें प्रकरण में पढ़ चुके हैं। दूसरे तार का भावार्थ यों था—

"बदमाशों ने झूठा इलजाम लगाने में तो कसर नहीं रखी थी। एक मेरे नाम पर आपको झूठा तार दे आया और दूसरे ने पुलिस में झूठी रिपोर्ट की। पुलिस आई भी किंतु जब मामले की कुछ बुनियाद ही नहीं तो अपना सा मुँह लिए लौट गई। हम दोनों प्रसन्न हैं। लोग उन दोनों पर मुकद्दमा चलाने की सलाह देते थे किंतु मेरी इच्छा नहीं है। मरे को क्या मारना? आप ही मर जायँगे, जेठ चलंते बाट।"

सब लोगों को तार सुनाकर पंडित जी बोले—"शाबाश लड़के! वाह री क्षमाशीलता! सज्जनों को ऐसा ही चाहिए। परंतु क्यों महाराज! आपको यह तार कैसे मिला? और आपको यह क्या मालूम कि मैं इस ट्रेन से आनेवाला हूँ?"

"इसका यश पुरी के पंडा शितिकंठ जी को है। बोध होता है कि आपके रवाना होने के अनंतर उनको कांता भैया का तार मिला। तार की बात ठहरी। उन्होंने खोलकर पढ़

लिया। और आपके पास इस खबर को पहुँचाना विशेष आवश्यक समझकर उन्होंने मुझे तार दिया। देख लो! तार उनका भेजा हुआ मेरे नाम है।"

"हाँ बेशक! फिर?"

"जिस समय तार मिला, मैं आप ही के नाम घर के पते पर चिट्ठी लिखकर लेटरबक्स में डालने जा रहा था। रेल का टाइम निकट देखकर इस चिट्ठी को जेब में डालता हुआ काशी स्टेशन पर पहुँचा। टाइमटेबुल में समय का हिसाब मिलाकर मैंने अनुमान कर लिया कि आप इस गाड़ी से आने-वाले हैं अथवा पुरी से चलकर जल्दी से जल्दी इस समय यहाँ पहुँच सकते हैं।"

"अच्छा महाराज, आपको बहुत परिश्रम हुआ। आप मुझे उपकार के बोझ से दबा रहे हैं। जब आप पिता हैं तब मैं आपके कहाँ तक गुण गान कर सकता हूँ।" यों कहते हुए फिर प्रियानाथ ने दीनबंधु के पैर पकड़ लिए। चिट्ठी में क्या था सो वह इनसे न कहने पाए। गाड़ी रवाना होने की एक दो और तीन घंटियाँ हो गईं। आगरे जाने के लिये इन लोगों को यहाँ गाड़ी बदलनी थी। बस चट पट वे गाड़ी में सवार हुए और उनके अनुग्रह से दबे हुए उनकी प्रशंसा करते हुए वहाँ से चल दिए। यहाँ यह भी लिख देने की आवश्यकता है कि पंडित पंडितायिन ने एक एक गिन्नी पंडित दीनबंधु को भेंट की थी किंतु उन्होंने ली नहीं। "ऐसा कभी नहीं हो सकता।"

कहते हुए वह भी नजर भर प्रेम के साथ उन पर दृष्टि डालते हुए उसी समय जिस गाड़ी से ये लोग उतरे थे उसी में सवार होकर बनारस चले गए। पंडित दीनबंधु के पत्र को प्रियानाथ ने पढ़कर "जैसा करता है वैसा पाता है।" कहते हुए जँगले में हाथ डालकर दूसरे कंपार्टमेंट में प्रियंवदा की ओर फेंक दिया और पत्र को पढ़कर कुछ मुसकुराती हुई वह भी उसे अपनी जेब में डालकर चुप हो गई।

इससे पाठकों ने समझ लिया होगा कि इस बार पंडित जी जुदे दर्जे में थे और पंडितायिन जुदे में। केवल इतना ही क्यों, गाड़ी में भीड़ की कसामसी से हर एक आदमी को अलग अलग बैठना पड़ा था। इस तरह वहाँ से रवाना होकर आगरे तक पहुँचने में इस पार्टी ने अलग अलग कंपार्टमेंट में बैठकर जो जो देखा उसे पृथक् पृथक् लिखकर विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। तीसरे दर्जे में सवार होकर अधिक भीड़ के समय जो अनुभव होता है उसे सब जानते हैं। गत प्रकरणों में समय समय पर थोड़ा बहुत लिखा भी गया है। हाँ देखना यह है कि गाड़ी से उतरने पर प्रियंवदा प्राणप्यारे से क्या रिपोर्ट करे। खैर, घर पहुँचने की जल्दी में अयोध्या न जाने का दुःख सबको था।

प्रकरण—५४

जनानी गाड़ी

दूसरे कंपार्टमेंट में, जिसमें प्रियंवदा सवार हुई थी, आठ दस स्त्रियाँ और थीं। उनके कपड़े लत्ते से, उनकी रहन सहन से और उनके बर्ताव से विदित होता था कि वे किसी भले घर की बहू-बेटियाँ हैं। यदि ऐसा न होता तो पंडित जी कुछ न कुछ और उपाय करते क्योंकि "दूध का जला मठे को भी फूँक फूँककर पिया करता है।" प्रियानाथ प्रियंवदा के उन महिलाओं में हिल मिलकर बैठ जाने से कुछ निश्चिंत अवश्य हुए किंतु प्रत्येक स्टेशन पर उतर उतरकर उसकी खबर लेते रहे और रात भर इसी खटके से उन्होंने निद्रा के नाम एक पलक तक न मारी। गाड़ी में सवार होने के अनंतर आपस में जान पहचान होकर इधर उधर की गप्पें होने लगीं। जहाँ चार औरतें इकट्ठी होती हैं वहाँ या तो आपस में कलह होती है, या औरों की निंदा होती है और जो ये दोनों बातें न हुईं और सब की सब जवान उमर की हुईं तो अपने अपने शौहर की, अपने अपने बाल बच्चों की अथवा अपने अपने धन दौलत की, रूप लावण्य की बातें होती हैं।

प्रियंवदा को इस प्रकार के निरर्थक गपोड़े जैसे पसंद नहीं थे वैसे एक और ललना भी इन स्त्रियों की ऐसी ऐसी

बातों से मन ही मन कुढ़ती थी। उसकी सत्रह अठारह वर्ष की जवान उमर, अच्छा मनोहर गेंहुआ रंग, गोल और सुंदर चेहरा, खंजन की सी लंबी लंबी आँखें, सिर पर मेमों का सा जूड़ा, रेशमी फूलदार साड़ी और पैरों में काले मोजों के ऊपर काली गुच्छेदार जरा जरा सी एड़ी की बढ़िया गुर्गाबियाँ थीं। उसके एक हाथ में छाता और दूसरे में एक अँगरेजी किताब के सिवाय आँखों पर सुनहरे फ्रेम का चश्मा चढ़ा हुआ था। हाथों में विलायती सोने की मरोड़ादार, पतली पतली सी दो दो चूड़ियाँ और दहने हाथ की अनामिका अँगुली में वैसे ही सोने की एक अँगूठी थी। प्रियंवदा को बहुत ही घूरकर देखने पर विदित हुआ कि उस पर लैटिन भाषा का एक शब्द खुदा हुआ था जिसका अर्थ है "भूल न जाइए।" वह ललना बार बार उस अँगूठी को देख देखकर मुसकुराती जाती थी और कहीं अँगुली में से वह गिर न जावे इसलिए सँभालती और अँगुली ही में उसे घुमाती जाती थी। दोनों ही दोनों की ओर देख देखकर न मालूम क्या विचार करने लगीं। चाहे पुरुष हो या स्त्री हो किसी नवीन व्यक्ति को जब कोई देखता है तब उसके मन में कुछ न कुछ भाव अवश्य पैदा हो उठता है। पुरुष पुरुष को देखे तब भाव भिन्न, पुरुष स्त्री को देखे तब भाव अलग किंतु दूसरी स्त्री को देखने पर एक ललना के मन में जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं वे विलक्षण हैं। उनकी थाह नारी-हृदय के सिवाय किसी को नहीं मिल सकती। और

रमणी-हृदय जैसे गहन होता है वैसे ही दूसरे का मन पहचान लेने की शक्ति भी उसमें अतुलनीय होती है। सर्व साधारण यदि अटकल लगाना चाहें तो अधिक से अधिक यही परिणाम निकाल सकते हैं कि जैसे एक युवा पुरुष किसी सुंदरी युवती को देखकर काम-पीड़ित होता है वैसे ही जवान औरत सुंदर सुडौल पुरुष को देखकर होती होगी। अथवा एक युवती दूसरी युवती को देखकर डाह कर सकती है, घृणा कर सकती है और दया कर सकती है। किंतु नहीं! यह फैसला बहुत ही भद्दा है। इस फैसले में ओछेपन की इतिश्री है। चाहे कोई स्त्री हो अथवा पुरुष हो, यदि उसने थोड़े प्रतिवाद के सिवाय उस व्यक्ति का चरित्र न लख लिया तो किया ही क्या? दोनों ने दोनों को नख से शिख तक देख भालकर एक दूसरे के लिये क्या फैसला दिया सो मैं नहीं बतला सकता अथवा यों कहो कि मेरा पुरुष-हृदय दोनों के नारी-हृदयों का पता पाने ही में असमर्थ है। अब पाठक पाठिकाओं को अधिकार है कि दोनों के परस्पर संभाषण से थाह पा लें।

अस्तु, जब योंही दोनों को मौन व्रत साधे दो तीन स्टेशन निकल गए तब प्रियंवदा ने कहा—

"बहन, आप तो पढ़ी लिखी मालूम होती हैं। कदाचित् आपने अँगरेजी की उच्च शिक्षा पाई है? क्यों बी० ए०?"

"हैं? हाँ! योंही! (कुछ लजाकर) इस बार बी० ए० की परीक्षा दूँगी!"

"बाल बच्चा क्या है ?"

"अभी से ? अभी तो मेरी शादी भी नहीं हुई।"

"अच्छा मैं समझी ! क्षमा करना ! तब ही आप बार बार अपने प्यारे की यादगार निरख निरखकर मुसकुरा रही हैं। बहन, तुम भले ही बुरा मानो। मेरा स्वभाव मुँहफट है। इधर रेनाल्ड की प्रेम कहानियाँ पढ़ना, प्राणप्यारे की अँगूठी धारण करना, उसे बारंबार निरखना और उधर अब तक शादी न करना ! तुम ही सोचो। यह स्वतंत्रता कहाँ तक अच्छी है ? यही विवाह के पहले गौना है। आग और घी पास रहकर न पिघले यह हो नहीं सकता और एकांत में मिले बिना प्रेम परीक्षा काहे की ?"

"अच्छा तो (कुछ झेंपकर) आपका प्रयोजन यह है कि यह स्वतंत्रता तो बुरी और दिन रात घर के जेलखाने में जेवर की बेड़ियाँ डाले चक्की चूल्हे से माथा मारते रहना अच्छा है। हमारे देश में वास्तव में स्त्री जाति पर बड़ा अत्याचार हो रहा है। वे या तो केवल बच्चा देने के काम की हैं अथवा अपने आदमी की गुलामी करने के। जिस देश में पति की जूँठन खाना ही धर्म, उसकी लातें खाना ही प्रेम, जहाँ पढ़ने लिखने का द्वार बंद और जहाँ अपने आदमी को पहचानने से पहले ही गुड़िया गुड्डे की तरह शादी हो जाती है, जहाँ विधवा विवाह घोर पाप माना जाता है वह देश कभी नहीं सँभलेगा, दिन दिन गिरता ही जायगा और इसके

पाप का बोझा हमारे शास्त्रकारों पर है, हमारे बूढ़े खुर्राटों पर है। और देश का अवश्य ही दुर्भाग्य समझना चाहिए कि हाल की नई पोढ़ में जो आदमी पैदा होते हैं वे उनसे भी गए बीते। खेद है! अफसोस है! अनर्थ है! राम राम!"

"हाँ! ठीक है! आपके फर्माने का मतलब मैं अभी तक यही समझी हूँ, मैंने यही परिणाम निकाला है कि आप स्त्रियों को पुरुषों के समान अँगरेजी की उच्च शिक्षा दिलाना पसंद करती हैं, पर्दे का पर्दा तोड़कर उन्हें पुरुषों में संयुक्त कर देना, अपने लिये इच्छा वर तलाश कर लेने की छूट देना, स्त्री पुरुष का परस्पर समान बर्ताव, नहीं नहीं (अपना कान पकड़-कर) मैं भूल गई थी, पुरुषों से भी अधिक अधिकार देना, और एक पति मर जाय तब दूसरा और दूसरा मर जाय तो तीसरा कर लेने की स्वतंत्रता देना चाहती हैं। क्यों यही ना? परंतु एक बात कहना आप भूल गईं। यदि पति नालायक निकले तो ब्याह का ठेका तोड़कर दूसरा तीसरा कर लेना।"

"बेशक! वास्तव में! अवश्य! निःसंदेह!"

"परंतु आपके और मेरे विचारों में धरती आकाश का सा अंतर है। स्त्री-शिक्षा से मेरा विरोध नहीं है बल्कि मैं उसकी बहुत आवश्यकता समझती हूँ। हाँ! उसके प्रकारों में भेद है और सो भी बहुत भारी। आप उनको अँगरेजी की उच्च शिक्षा दिलाकर पुरुषों के समान बनाना चाहती हैं किंतु पुरुषों को आजकल जो शिक्षा मिल रही है वह जब उन्हीं

को पढ़ लिखकर बीस वर्ष खराब कर देने पर भी, हजारों रुपए नष्ट कर डालने पर भी और "नई जवानी माँझा ढीला" की कहावत के अनुसार स्वास्थ्य का खून हो जाने पर भी कौड़ी काम का नहीं रखती तब उस शिक्षा से स्त्रियों का सर्वनाश समझो। ऐसी ऊँची शिक्षा पा लेने पर भी न तो उन्हें धर्म का किंचित् ज्ञान होता है और न दुनियादारी का। भले ही वे एक कारीगर के बेटे पोते हों किंतु उन्हें पढ़ लिख-कर बसूला पकड़ने में शर्म आती है और जो कहीं किसी के कहने सुनने से अथवा पेट की आग ने जोर मारकर उसे उठवाया भी तो दस मिनट में वे हाँप उठेंगे। यदि वे दूकान खोलने का इरादा करते हैं तो रुपया चाहिए और उनका बाप उनकी पढ़ाई में अनाप सनाप खर्च करके कर्जदार बन गया है। इसलिये पढ़ने लिखने का फल यही होता है कि वे बीस पचीस रुपए की नौकरी के लिये दौड़ जाते हैं, अफसर की लातें खाते हैं, गालियाँ खाते हैं और जन्म भर कुएँ के मेंढक की तरह "चलते हैं लेकिन ठौर के ठौर।" बस इसलिये वे अवश्य "पहाड़ खोदकर चूहा" निकालते हैं और इसलिये कि पास का परवाना लेकर जब वे किसी आफिस में उम्मेद-वारी करते हैं तब दो वर्ष तक उन्हें फिर काम का ककहरा सीखना पड़ता है।"

"हाँ मैंने मान लिया कि पुरुषों की शिक्षा-प्रणाली अच्छी नहीं है परंतु स्त्रियों को कैसी शिक्षा मिलनी चाहिए?"

"आप जिस तरह की शिक्षा पा रही हैं, क्षमा कीजिए, वह आपको बनाती नहीं बिगाड़ रही है। अच्छा बतलाइए आप क्या क्या खाना बनाना जानती हैं? यदि आवश्यकता आ पड़े तो शायद आपको बाजार से पुरी या बिस्कुट लेकर ही गुजारा करना पड़े। अलबत्ता आप कह सकती हैं कि एक अच्छा बावर्ची या रसोइयाँ नौकर रख लेंगी परंतु आपके पास इतना रुपया ही न हुआ तो फिर?"

"बेशक! यह तो त्रुटि ही है। न मैंने कभी माता के कहने पर कान दिया और न अभी तक किताबें रटने के आगे उसे सीखने का समय मिला। मदरसे में तो इसका वास्ता क्या? किताबें देख देखकर शायद कुछ बना लेने की हिम्मत भी करूँ तो चूल्हा फूँकते फूँकते धुएँ के मारे आँखें फूट जायँ। पढ़ते पढ़ते आँखें पहले ही कमजोर पड़ गई हैं! अच्छा अब सीखने का प्रयत्न करूँगी।"

"अच्छी बात है परंतु कपड़ा सीना? रँगना? और कहाँ तक कहूँ, गृहस्थी के सैकड़ों काम हैं! उन्हें लड़कियाँ घर में गुड़िया खेलते समय सीख लिया करती हैं। उन पर उस समय बोझा बिलकुल नहीं पड़ता। अब आप जिस समय शादी करेंगी, बाल बच्चे होंगे तब आपको बड़ी मुश-किल पड़ेगी।"

"हाँ मैंने यह भी बात मान ली कि पढ़ी लिखी स्त्रियाँ घर के धंधे से बिलकुल कोरी रहती हैं। उन्हें न तो इन

बातों का अभ्यास होता है और न सामर्थ्य ! और इस कारण उन्हें ऐसी शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए जिससे वे पहले घर गृहस्थी के उपयोगी चीजें बनाने सुधारने में होशियार हों और तब मौज शौक की चीजें सिखाई जायँ। परंतु पुस्तकें ? पुस्तकें किस भाषा में, किस तरह की, कौन कौन सी ?

"अँगरेजी पढ़ने से मुझे शत्रुता नहीं है। मैं भी ससुराल में आकर अपने उनके पास थोड़ा बहुत सीख गई हूँ किंतु ऐसा नहीं है कि अँगरेजी के बिना खाना हजम ही न हो। देश भाषा का अच्छा ज्ञान उन्हें अवश्य होना चाहिए। केवल इतना ही नहीं जिससे चिट्ठी पत्री लिख पढ़ सकें। स्त्रियों के उपयोगी संस्कृत के, अँगरेजी के और फारसी अरबी के जो जो अच्छे ग्रंथ मिल सकें उनका हिंदी उलथा, अच्छी अच्छी पुस्तकों के आधार पर अपने ढंग के अनुसार तैयार किए हुए उपयोगी ग्रंथ हों और यदि अवकाश मिले तो अपना मन प्रसन्न करने अथवा पति के आमोद प्रमोद के लिये कुछ गायन कविता। किंतु आपके इस रेनाल्ड के नावेल की तरह ऐसी कोई भी पोथी उनके हाथ में न पड़नी चाहिए जिससे उनकी व्यभिचार में प्रवृत्ति हो। संक्षेप यह कि उन्हें ऐसी ऐसी पुस्तकें पढ़ानी चाहिएँ जिनसे उनकी परमेश्वर में अविचलभक्ति बढ़े, वह माता पिता सास ससुर और शिष्ट जनों का आदर करना सीखें, पति को अपना इष्टदेव मानकर उसकी सेवा करें, पति के सिवाय पर पुरुष को, बाप भाई और मामा

चाचा तक को निहारकर, आँखें मिलाकर न देखें और न कभी अपनी लज्जा का बंधन तोड़कर पर पुरुष के सामने हों।"

"अच्छा! पुस्तक संबंधी शिक्षा तो ठीक ही है। अँगरेजी न पढ़ने से भी कुछ हानि नहीं। अँगरेजी जब पराए देश की और क्लिष्ट भाषा है तब उसे पढ़ने से जो ज्ञान दस वर्ष में हो सकता है उसके लिये हिंदी में दो वर्ष बहुत हैं। परंतु क्या पति की वही गुलामी, पर्दे का वही जेलखाना? नहीं जीजी! ऐसा न कहो!"

"पर्दे से मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि घर की चार-दीवारी के भीतर स्त्रियाँ कैद रक्खी जायँ, बाहर की कभी उन्हें हवा तक न लगे। जहाँ सब स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ हों, जहाँ स्त्रियाँ भी नेक चलन इकट्ठी हुई हों और जहाँ पुरुषों की दृष्टि न पड़ती हो ऐसे स्त्री-समाज में जाना मैं बुरा नहीं समझती और अदब के साथ ढँकी गाड़ी में बैठकर बाहर की हवा खाने की भी आवश्यकता होती है परंतु स्त्रियों का लज्जा ही प्रधान भूषण है और पर्दा ही उसकी रक्षा करनेवाला है, इसलिये पर्दे को तोड़ना अच्छा नहीं। बल्कि मेरी राय तो यहाँ तक है कि पर्दे के भीतर बदचलन औरतों तक को न आने देना चाहिए। मेरी देवरानी हाल ही में इससे कष्ट उठा चुकी है।"

"खैर यह भी मान लिया परंतु पति की गुलामी अब हमसे नहीं हो सकती! सैकड़ों वर्षों से गुलामी करते करते

पेट भर गया। जब परमेश्वर ने आदमी और औरत को समान पैदा किया है तब पुरुषों के समान हमें स्वतंत्रता क्यों न मिले ?"

"नहीं ! समान पैदा नहीं किया। दोनों की बनावट में अंतर, दोनों के काम में अंतर और दोनों के विचार में अंतर है। यदि समान ही पैदा किया है तो शादी होने के बाद अपने शौहर से काम की बदली कर लेनी चाहिए। उनसे कह देना कि नारियों ने युगों तक गर्भ धारण करने की घोर यातना भोग ली अब नौ महीने तक पेट में बालक रखने की मेहनत तुम उठाओ। अब हम तुम्हारे बदले बाहर जाकर कमाई का काम करेंगी।"

"नहीं! (लजाकर) ऐसा क्योंकर हो सकता है ? प्रकृति के विरुद्ध !"

"जब यह नहीं हो सकता तब बराबरी भी नहीं हो सकती ! मेरी समझ में संसार में स्वतंत्र कोई नहीं है। प्रजा राजा की परतंत्र है, राजा परमेश्वर का परतंत्र है, स्त्रियाँ पुरुषों की परतंत्र हैं और पुरुष स्त्रियों के परतंत्र हैं, यहाँ तक कि एक व्यक्ति महाराजाधिराज होने पर भी खिदमतगारों का, नाई का, धोबी का और मेहतरों का परतंत्र है। और जो आपके से विचारवाली स्त्रियाँ परतंत्रता की बेड़ी तोड़कर स्वतंत्र बनना चाहती हैं वे पति का, घरवालों का, समाज का और राजा का दबाव न मानने से कामदेव की परतंत्र बनकर व्यभिचार करती हैं, क्रोध की परतंत्र होकर पाप करती हैं

और बस इसी तरह समझ लीजिए। विलायत को देखो। समान स्वत्व माँगने में वहाँ की स्त्रियों ने कितना ऊधम मचा रखा है। वे मकान जला देती हैं, पत्थर फेंकती हैं, हमले करती हैं और न मालूम क्या क्या कर डालती हैं।"

"वास्तव में ऐसी स्वतंत्रता किसी काम की नहीं परंतु पति की गुलामी भी अच्छी नहीं है।"

"हाँ! ठीक है परंतु हमारे देश में भले घर की नारियाँ पति की गुलाम नहीं होतीं, उनकी अर्द्धांगिनी होती हैं। जिन जातों में ठहरौनी के लालच से, रुपया कम पाकर अथवा पति के दुराचार से गाय भैंस का सा बर्ताव स्त्रियों के साथ किया जाता है वह अवश्य निंदनीय है क्योंकि हमारे धर्म-शास्त्रों का ही यह सिद्धांत है कि स्त्री पति को और पति स्त्री को प्रसन्न रखें। जिस घर में स्त्रियों का आदर है वहाँ देवता रमण करते हैं, वहाँ कल्याण का अवश्य निवास है। परंतु इससे स्त्रियों की स्वतंत्रता मत समझ बैठना। शरीर में दहना और बाँया हाथ समान है किंतु अनादि काल से जो काम जिसके सिपुर्द है उसे वही करना चाहिए। जरा एक दिन बायें हाथ से खाना और दहना हाथ पानी लेने के काम में लगा देना, कैसा होगा? आप पति को "ब्राइड ग्रूम"—साईस न बनाइए और न उसे "हस्बैंड" खेतिहर। आप उसकी अर्द्धांगिनी बनकर उसे जन्म जन्मांतर के लिये साथी बना लीजिए। आप जब उसके नाम से पुकारी जायँगी तब आप उसकी "बेटर हाफ—उत्तमार्द्ध" हो चुकीं।"

"राम राम ! आपने तो बड़ी गंदी बात कह डाली ।"

"बस दंपती के एक शरीर का मर्द दहना अंग और औरत बाँया अंग है। दोनों अपना अपना काम आप आप करते हैं किंतु दूसरे को जब मदद की आवश्यकता हो तब एक तैयार !"

"अच्छा ! यह भी समझ लिया। आपके विचार ठीक ही हैं। और यह तब ही हो सकता है जब कि पति में अगाध भक्ति हो, अनन्यता हो। पति भी पत्नी को अपना शरीर समझे। जिनमें स्वतंत्रता का भूत सवार हो गया है वे अवश्य पति का आदर नहीं करती हैं। परंतु विवाह के विषय में आपकी क्या राय है ?"

"इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले मैं आपको एक बात और सुझा देती हूँ। यदि आपको सचमुच ऐसी गृहिणी बनना हो तो भारतवर्ष के इतिहास पुराणों का अवलोकन कीजिए। ऐसी रमणियों के चरित्रों का संग्रह "सतीचरित्र संग्रह" में देखिए। "आदर्श दंपती," "हिंदू गृहस्थ," "बिगड़े का सुधार," "विपत्ति की कसौटी" और "स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी" आदि अनेक ग्रंथ आपको मिलेंगे। रेनाल्ड के नावेलों को फेंक दीजिए। ये आपके चरित्र को बिगाड़नेवाले हैं।"

"बेशक ! अच्छा विवाह ?"

"हाँ ! इस विषय में मेरी राय यह है कि स्त्री जाति कभी कुँवारी रहकर अपने सतीत्व का पालन नहीं कर सकती।

थोड़े प्रतिवाद चाहे निकल भी आवें परंतु पुरुष बिना उसका एक दिन भी गुजारा नहीं और जो इस बात का दम भरती हैं उन्हीं में बहुतेरी ऐसी निकलेंगी जिनके लिये मैं क्या कहूँ ? हाँ यह जुदी बात है कि दूसरे की जोरू बनकर प्रसव वेदना के भय से विवाह न किया किंतु मान लीजिए कि जो एक की जोरू नहीं बनना चाहतीं वे बहुतों की बन सकती हैं। इनमें प्रतिवाद भी हैं किंतु साधारण यही। ऐसा न करनेवाली कितनी ही आपको भ्रूणहत्या करनेवाली मिलेंगी और उन्हें गर्भ न रहने की दवा भी टटोलनी पड़े तो आश्चर्य नहीं। संभव है कि किसी दिन यहाँ भी ऐसा अनाथालय खोलना पड़े जिसमें व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जाकर चुपचाप बच्चा जन आवें। ऐसी स्वतंत्रता को साष्टांग प्रणाम। ब्रह्मचर्य का पालन कर आजीवन अथवा अधिक वय तक कुमारिकाएँ रहनेवाली वास्तव में पूजनीय हैं किंतु इस कलिकाल में यह एकदम असंभव, महा कठिन है।"

"अच्छा ! परंतु सच्चा सुख तो इसी में है कि अपनी इच्छा के अनुसार अपने लिये अनुकूल, सुदृढ़, नीरोग, विद्वान् और सज्जन पति तलाश करने का भार स्त्रियों पर रहे और यह तब ही हो सकता है जब पकी उमर में उनकी शादी की जाय।"

"वास्तव में सच्चा सुख ऐसा गुणवान् पति मिलने ही में है परंतु अनुभवशून्य युवतियों पर पति ढूँढ़ने का भार

डालना नितांत भूल है। सरासर पाप है। स्त्रियाँ पढ़ते पढ़ते यदि पचीस वर्ष भी कुँवारेपन में क्यों न निकाल डालें किंतु उनके माता पिता को जितना अनुभव है उतना क्या उससे आधा चौथाई भी उनको नहीं हो सकता। वे जैसे अच्छे घराने का, अच्छा विद्वान् और अच्छे शील स्वभाववाला वर तलाश करके उसकी जैसी जाँच कर सकते हैं वैसी जाँच युवती कुमारिका से नहीं हो सकती और इसी लिये छठे महीने तलाक देने के लिये अदालत में दौड़े जाना पड़ता है।"

"खैर! यह भी मान लिया किंतु दक्षिण देश में मुरलियों के नाम से कितनी स्त्रियाँ आजन्म कुँवारी रहती हैं। वे मंदिरों को भेड़ बकरियों की तरह भेंट की जाती हैं। उनका क्या यह धर्म है?"

"नहीं! कदापि नहीं! यह धर्म के नाम से पाप है। केवल दक्षिण में ही नहीं। ऐसे ऐसे अनर्थ उत्तर में, अलमोड़ा की ओर भी होते हैं। यह पाप शीघ्र बंद होना चाहिए।"

"अच्छा तो विवाह के लिये उमर कौन अच्छी है?"

"मैं युवती विवाह को बहुत बुरा समझती हूँ। जिन लोगों में अनाप शनाप दहेज देने की चाल है उनमें रुपए के अभाव से चालीस पचास वर्ष की उमर तक बहन बेटी को कुँवारी रखकर घोर अन्याय किया जाता है। जैसे प्राणी मात्र को किसी न किसी प्रकार की खुराक आवश्यक है वैसे स्त्री के लिये पुरुष और पुरुष के लिये स्त्री का संबंध एक प्रकार

की खुराक ही समझो और जब ऐसा है तो भूख लगते ही खाने को मिल जाना चाहिए। जो भूख लगते ही भोजन नहीं पा सकता है उसकी नियत अखाद्य वस्तुओं पर दौड़ती है। नीचों के यहाँ तक का खा लेने की प्रवृत्ति होती है। संसार के अनुभव से और शास्त्र की मर्यादा से कन्या के विवाह का काल रजोदर्शन से पूर्व और समागम का समय रजोदर्शन होते ही है। बल्कि गर्भाधान संस्कार भी तब ही होता है।"

"शास्त्रों में तो कपड़ों से होने के तीन वर्ष बाद तक का लेख बतलाते हैं?"

"नहीं! उसका मतलब यह है कि यदि योग्य वर न मिले तो इतने समय तक पिता राह देख सकता है। यह मतलब न होता तो ऐसा क्यों लिखा जाता कि रजस्वला होने पर भी जो पिता अपनी लड़की का विवाह नहीं करता, वह प्रति मास उसके रज का पान करता है। रजोदर्शन से पूर्व विवाह करने के सैकड़ों प्रमाण हैं।"

"हाँ! तो बारह वर्ष की उमर तक विवाह करके पहले, तीसरे, पाँचवें वर्ष में शरीर का ढंग देखकर गौना कर देने से आपका प्रयोजन सिद्ध हो गया परंतु तलाक? मर्द खराब निकल आवे तो उसका त्याग करके दूसरा विवाह अवश्य होना चाहिए।"

"और दूसरा खराब निकल आवे तो तीसरा, चौथा, पाँचवाँ इत्यादि? क्यों यही ना? यह विवाह नहीं ठेका है।

जिन लोगों में ऐसी रिवाज है उनमें दंपती का प्रेम नहीं होता, ईश्वर पर भी आदमी की भक्ति इसी लिये है कि उसकी बदली नहीं होती। नहीं तो लोग नित्य नया बनाकर उसे बदला करें। प्रथम तो पति में ऐसी खराबी ही क्या, जो हो भी वह उसकी इच्छा के अनुसार चलने में भलाई में बदल जायगी। और यदि उसमें चोरी, अन्याय, व्यभिचारादि दोष आ पड़ें तो उन्हें सुधारना चाहिए। स्त्री का सुधारा पति अवश्य सुधर सकता है। पातिव्रत मात्र उसमें चाहिए। "हिन्दू गृहस्थ" और "बिगड़े का सुधार" देखिए।"

"मान लिया कि अच्छी स्त्रियाँ पति को ठिकाने ला सकती हैं परंतु विधवा की हमारे यहाँ निःसंदेह दुर्दशा है। उन पर घोर अत्याचार होता है। उनका विवाह अवश्य होना चाहिए।"

"विवाह उन विधवाओं का होता है जो शूद्र अथवा अति शूद्र हैं। उच्च वर्णों में बिलकुल अयोग्य है। जिनमें ऐसी चाल है उनमें से भी जो ऊँचे खयाल के हैं वे इस चाल से घृणा करते हैं। "तिरिया तेल हमीर हठ" का सिद्धांत हिंदू नारियों के मन पर अंकित है। यदि विधवा विवाह का प्रचार किया जाय तो फल यह होगा कि दांपत्य प्रेम नष्ट हो जायगा। किसी न किसी कारण से आपस में कलह होते ही एक दूसरे को जहर देने पर उतारू होगा। ऐसा करके हत्या की संख्या न बढ़ाइए। शास्त्रों में भी इसी लिये इसका

निषेध है। आपको यदि अवकाश हो तो "सुशीला विधवा" में मेरी फूफी का चरित्र पढ़ लेना।"

"हाँ पढ़ा है। अच्छा है। वह यदि आपकी फूफी हैं तो आप भी चरण छूने योग्य हो परंतु इस जमाने में विधवाओं का पेट भरना भी कठिन हो गया है।"

"हिंदू समाज अभी इतना नहीं डूबा है कि उनका पेट भरना कठिन हो जाय। भले घरों में वे अब भी पूजी जाती हैं। यदि उनका उपकार करना हो तो उनके पालन पोषण और चरित्र-रक्षा के लिये विधवाश्रम खोलिए। खुले भी हैं।"

इस तरह बातें करते करते "आगरा फोर्ट" की पुकार पड़ते ही उस रमणी ने प्रियंवदा के चरण छूकर प्रणाम किया और अपने संदेहों की निवृत्ति पर धन्यवाद देती हुई वह बिदा हो गई।

प्रकरण—५५

संयोग का सौभाग्य

हमारी पंडित पार्टी को आगरे में कुछ काम नहीं था। यदि थोड़ा बहुत काम भी निकल आवे तो जब ये घर पहुँचने की उतावल से अयोध्या ही न जा सके तब इससे बढ़कर आगरे में कौन काम हो सकता है ? खैर, यमुना स्नान करके कालिंदी कूल पर भोजन करने के अनंतर ये लोग गाड़ी के टाइम पर आ पहुँचे और वहाँ से सवार होकर अजमेर पहुँचे। मार्ग में कोई ऐसी घटना नहीं हुई जो उल्लेख करने योग्य हो। जब थोड़ा और बहुत, रेल का सफर करनेवालों के सामने स्टेशनों के गुण और दोष अनुभव में पक्का करने के लिये आ खड़े होते हैं तब उनके लिये भी कागज खराब करना अच्छा नहीं। हमारी पार्टी को घर छोड़े बहुत मास व्यतीत हो चुके, ज्यों ज्यों घर पास आता जाता है त्यों ही त्यों शीघ्र ही गृहप्रवेश के लिये चटपटी बढ़ने लगती है। ऐसी दशा में अब पंडित मंडली को इधर उधर के झगड़ों में उलझा रखना मानों उनके आतुर मनों को, संयोग की लालसा से मनमोदक बनाने का आनंद लूटते समय वियोग का पर्दा बीच में डालकर विषाद की झलक से उनके मुख कमल को मुरझा देना है। आइए, आइए, इसलिये अजमेर का स्टेशन आते ही बहुत काल के

बिछुड़े हुओं का मिलाप कराकर भरत-मिलाप के चित्र की एक झांकी की परछाहीं देख लीजिए।

अच्छा तो यह लीजिए। अजमेर आ पहुँचा। बस "अजमेर! अजमेर!!" की आवाज के साथ जब गाड़ी प्लेट-फार्म पर खड़ी हो गई तब इस पार्टी को दूर से भीड़ को चीर-कर आती हुई एक जोड़ी दिखलाई दी। देखते ही पंडित, पंडितायिन का सूखा हुआ मन हरित हो गया, मुरझाई हुई लता लहलहा उठी, सारी चिंताओं में, चिता से भी बढ़कर, विना अग्नि के भस्म कर डालनेवाली चिंता में सम्मिलन के संयोग का अमृत सिंचन होकर वियोग का विषाद जाता रहा। अतिकाल में अपने प्राणप्रिय बछड़े को देखकर गौमाता के स्तनों में से जैसे दूध के झरने झरने लगते हैं, जैसे वह अपने पुत्र को चाट-कर अपने अंत:करण की तपन बुझाने के लिये हुंकार करती हुई उसकी ओर दौड़ी जाती है उसी तरह आगत जोड़ी के दर्शन होते ही प्रेमांबु की अश्रुधारा से उनका संतप्त हृदय ठंढा करने के लिये, शुभाशिष की अमृतधारा से उनको गद्गद करते हुए स्वयं प्रेमविह्वल हो जाने के लिये अपने असबाब को भूल-कर, अपने साथियों को भूलकर, अपना देहाभिमान भूलकर, पंडित दंपती दौड़े हुए गए। यह सत्य है कि संयोग की मिठास उसी समय बोध होती है जब वियोगजनित विषाद का कडुवापन चखते चखते वह एकाएक प्राप्त हो। यदि संसार में वियोग के विषाद की अग्नि से नर नारी न तपाए

जाते हों, उनका हृदय कमल न झुलसा दिया जाता हो तो सचमुच संयोग जैसा मधुर पदार्थ भी सीठा है।

इस उपन्यास के क्षीन मतिहीन लेखक में सामर्थ्य कहाँ जो गोस्वामी तुलसीदास जी की तरह, हजारों लाखों वर्ष बीत जाने पर भी पाठकों के, हृदय चक्षुओं के सहारे, इन चर्म चक्षुओं के सामने राम-भरत के प्रेम-सम्मिलन का हूबहू चित्र खड़ा कर दे। वैसा नहीं, उसका शतांश भी नहीं! हाँ यदि उसकी परछाहीं भी दिखलाई देने लगे तो इस लेखक का सौभाग्य। सौभाग्य इसलिये कि इसमें उसकी योग्यता कुछ नहीं। यदि वह बहुत ही कोशिश करे तो उनके भावों की चोरी कर सकता है। ऐसी चोरी थोड़ी और बहुत सब ही करते आए हैं और जब उन्होंने अपने भावों को सर्व साधारण के उपकार के लिये खोलकर रख दिया है तब ऐसी नकल चोरी नहीं कहलाती। लेखकों की चोरी, डकैती भिन्न प्रकार की होती है।

अस्तु! प्रियानाथ और प्रियंवदा के समीप पहुँचते ही कांतानाथ और सुखदा ने उनके चरणों में सिर रख दिए। गठजोड़ से नहीं, क्योंकि शास्त्रीय कामों का संपादन करने के लिये पति के उत्तरीय का एक कोना स्त्री की साड़ी से बाँध दिया जाता है। दोनों का संबंध अलौकिक होने पर भी, दंपती के एक प्राण दो तन होने पर भी हृदय के गठजोड़े के समक्ष कपड़े का गठजोड़ा कोई चीज नहीं। केवल उसका अनुकरण है। बेशक आज इन दोनों का दोनों प्रकार का गठजोड़ा नहीं

है किंतु जब दोनों अलग होने पर दोनों के हृदय का भाव एक है, दोनों ही दोनों को भक्ति पुष्पांजलि समर्पण करने के लिये एकाग्र हुए हैं और जिनकी आराधना करने के लिये इन्होंने सिर नवाए हैं वे एक प्राण दो तन हैं तब आज से ही कांतानाथ और सुखदा के हृदय का गठजोड़ा समझ लो। "भैया उठो! लल्ला उठो।" कहकर जब दोनों कह हारे तब पंडित जी ने बलपूर्वक उठाकर कांतानाथ को छाती से लगा लिया, छोटी के मस्तक पर हाथ फेरा और तब चारों एक दूसरे की ओर टकटकी बाँधकर देखने लगे। हाँ! यहाँ इतना अवश्य कह देना चाहिए कि प्रियंवदा का अर्द्धस्फुट घूँघट देवर के मुख कमल को पुत्रवत् निरख रहा था और देवर भौजाई जब नतभ्रू होकर अवाक् थे तब सुखदा बिचारी की आँखों के सामने गाढ़े घूँघट की कनात खड़ी थी।

कोई दस मिनट तक ये लोग यों ही खड़े रहे। किसी के मुख से कोई शब्द ही न निकलने पाया। ऐसे आत्मीय के सम्मिलन के समय मुखरा वाणी ही जब कर्तव्य-शून्य होकर प्रेम प्रवाह में अपनी वाचालता को बहा देती है तब सबके सब गूँगे की तरह हैं, उनमें से कोई भी बोलता तो किस तरह! अस्तु पंडित जी ने सब से पहले अपने अंतःकरण को सँभाला। वह कहने लगे—

"स्वस्त्यस्तु ते कुशलमस्तु चिरायुरस्तु,
गोवाजिहस्तिधनधान्यसमृद्धिरस्तु।

ऐश्वर्यमस्तु बलमस्तु रिपुक्षयोस्तु,
वंशे सदैव भवतां हरिभक्तिरस्तु ॥"

और साथ ही "अखंड सौभाग्यवती पतिपरायणा पुत्रवती भव" कहकर उन्होंने एक बार फिर सुखदा के सिर पर हाथ फेरा। कांतानाथ की जब अभी तक प्रेम विह्वलता बनी हुई थी तब उसके मन में ऐसा आशीर्वाद सुनकर कैसे भाव पैदा हुए सो मैं क्या कहूँ किंतु सुखदा को निश्चय हो गया कि "मुझे मनवांछित फल मिल गया।" बस वह आनंद में मग्न होकर थाह पाने का प्रयत्न करती हुई सब के साथ गाड़ियों में चढ़कर पुष्कर पहुँची।

"पुत्रवती भव" का आशीर्वाद पाकर सुखदा को यद्यपि निश्चय हो गया कि अब पति के मुझे अंगीकार कर लेने में संदेह नहीं है किंतु अभी तक उसके हृदय की धड़कन कम नहीं हुई थी, बस इसलिये पंडित जी के मुख से फैसला सुनने के लिये वह जिस समय आतुर थी उसी समय पुष्कर के विमल सरोवर के तटवर्ती वृक्षों से, लता पल्लवों से और शुभ्र सुंदर भवनों से आच्छादित कुंज में प्रवेश करते करते उन्होंने कहा—

"आज बहू के समस्त अपराध तीर्थगुरू के तट पर क्षमा कर दिए गए। परमेश्वर अपने अखंड अनुग्रह से इसे पतिपरायणता का आदर्श बनावे और इसके पुत्र हों और चिरंजीवी हों, यह मैंने आशीर्वाद भी दे दिया परंतु शास्त्र की मर्यादा के लिये इसे पंचगव्य प्राशन और हेमाद्रि स्नान

और करा देना चाहिए। कृच्छ्र चांद्रायण व्रत यह अनेक कर ही चुकी। बस इतना करने के अनंतर हमारे पूर्वजों के श्राद्ध के लिये पाक संपन्न करने की यह अधिकारिणी है। इसलिये हमारी इच्छा है कि पहले इससे यह कार्य कराकर तब इसके हाथ से बनाए हुए पाक से हम श्राद्ध करें।"

पितृ तुल्य पंडित जी की आज्ञा सुखदा ने माथे चढ़ाई। यद्यपि उसने अपने मुख से न "हाँ" कही और न "ना" और ज्येष्ठ श्रेष्ठों के समक्ष वह कहती भी क्योंकर! यदि परदेश न होता तो उनके समक्ष आने से भी क्या मतलब था? किंतु उसके मुख के भाव से प्रियंवदा ने जान लिया कि "जो कुछ आज्ञा हुई है उसे सिर के बल करने को वह तैयार है।"

पंडितजी की इच्छा थी कि सुखदा को प्रायश्चित्त कराने का कार्य और उन्हें श्राद्ध कराने का काम इस बार गौड़बोले जी करें। जब वह साथ ही इसके लिये थे तब उन्हें उज्र भी क्या हो? किंतु पुष्कर की सीमा में पैर रखते ही अन्यान्य तीर्थों की तरह यहाँ भी भूतों ने घेर लिया था। और और तीर्थों में तीर्थगुरुओं के मारे, भिखारियों के कष्ट से यात्री तंग आ जाता है, चाहे जैसा दृढ़-संकल्पी हो उसकी श्रद्धालुता की जड़ यदि उखड़कर न गिर जाय तो हिल अवश्य उठती है फिर पुष्कर सब तीर्थों का गुरू है। शिष्यों से गुरू में यदि कुछ अधिकता न हो तो वह गुरू ही कैसा? मूर्ख निरक्षर पंडों के ठट्ठ से, भिखारियों की नोच खसोट से और लाव लाव की चिल्ला-

हट से पूर्व प्रसंग स्मरण करके यद्यपि पंडित जी का धैर्य छूट ही जाता किंतु सौभाग्य से पंडित प्रियानाथ जी का पंडा "साक्षरा" को "राक्षसा" में बदल देनेवाला साक्षर नहीं सचमुच, साक्षर निकला। वह अच्छा कर्मकांडी, नामी वैयाकरण होने के साथ ही अच्छा ज्योतिषी और अच्छा वैद्य भी था। इन गुणों के अतिरिक्त पंडों भर में, बस्ती भर में उसकी धाक थी। बस पंडित धरणीधर मिश्र का नाम सुनते ही समस्त पंडे अपनी अपनी बहियाँ बगल में दबाकर अलग हो गए और भिखारियों की भीड़ भी छँट गई।

शास्त्र की विधि के साथ, श्रद्धापूर्वक, लोभरहित होकर प्रत्येक कार्य में प्रियानाथ जी को संतुष्ट करते हुए दोनों कार्य इन्हीं महाशय ने कराए। जब कार्य की समाप्ति का समय आया तब फिर पंडित जी बोले—

"हाँ! एक बात कहनी और रह गई थी। बहू रानी, इस मध्य पिंड का भोजन आज तुम्हारे ही लिये है। खूब भक्तिपूर्वक भोजन करना। इसके सिवाय और कुछ नहीं।"

सुखदा ने चाहे इसका मतलब न समझा हो परंतु प्रियंवदा ने पति की आँखों में अपने नेत्र उलझाकर मुसकुराते हुए सुखदा के कान में कुछ कहा और लज्जित होकर उसने अपना सिर झुका लिया। पंडित जी की पहली आज्ञा की जिस तरह तामील हुई थी उसी तरह इस समय हुई और यों श्राद्ध अनुष्ठान सुखपूर्वक संपन्न होने पर जो सुखदा किसी

समय दु:खदा कही गई थी वह आज सच्ची सुखदा बनकर अपनी जेठानी के चरणों में लोटती हुई उससे क्षमा पर क्षमा माँगने और कहने लगी कि "जब तक तुम 'माफ कर दिया' न कहोगी तब तक इन चरणों को न छोड़ूँगी।" प्रियंवदा ने उसे उठाकर अपनी छाती से लगा लिया और तबसे दोनों में सगी बहनों का सा प्रेम हो गया।

पंडित जी ने, उनके साथियों ने धरणीधर महाराज को, वहाँ के अन्यान्य सुपात्र ब्राह्मणों को और दीन भिखारियों को यथाशक्ति दान देकर क्योंकर उन्हें अपने मधुर भाषण से संतुष्ट कर दिया और क्योंकर उनके आशीर्वाद से वे गद्‌गद हो गए सो कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि तीर्थ-स्नान और दर्शन करनेवाले सज्जनों को इसका थोड़ा बहुत अनुभव होता ही है। हाँ! एक घटना से उनका हृदय एकदम दहल उठा। पंडित जी जैसे दयालु ब्राह्मण के आँखों देखते, उनके निकट से जगज्जननी, परम वंदनीया गौ माता को पामर मगर किनारे से खैंचकर और सो भी जल-पान करते समय ले जावे, इनके नेत्रों के समक्ष, हजारों आदमियों के देखते देखते हिंदुओं की प्यारी गौ डुबक डुबक करती करती जल में डूब जावे, उसकी नन्हीं सी बछिया किनारे पर बिलबिलाती खड़ी रहे और किसी से कुछ करते धरते न बन पड़े, बस इससे बढ़कर संताप क्या हो सकता है? वह अवश्य उसे छुड़ाने के लिये लँगोट बाँधकर कूद पड़ते, वह तैराक भी

कम नहीं थे परंतु पुष्कर जैसे पुण्य सरोवर में मगर एक नहीं, सैंकड़ों, इससे भी अधिक हैं। जहाँ के मगर, घड़ियाल नर-शरीर से, सिंहव्यालादि जैसे नरघाती भीषण जीवों को डरा देनेवाले मनुष्य से न डरकर उन्हें किनारे से खैंच ले जाने का हौसिला रखते हैं, जिनके मारे किनारे पर बैठकर स्नान कर लेने के सिवाय जल में घुसने तक का साहस नहीं होता, जल में एक अदृष्ट पदार्थ को छुड़ाने के लिये पंडित जी को प्रवेश करने देना किसी को स्वीकार नहीं हुआ। बस इनके तैयार होते ही—"खबरदार! भीतर पैर रखा तो! गाय तो गई सो गई ही परंतु तुम्हारा भी कदापि पता नहीं लगेगा। अभी पाँच मिनट में तुम्हारे टुकड़े टुकड़े करके खा जायंगे। अकेले तुम्हारे शरीर पर दस बीस टूट पड़ेंगे" की चिल्लाहट मची। बस हताश होकर इन्हें रुक जाना पड़ा और सच पूछो तो प्रियंवदा की चार चूड़ियों के बल से ये अचानक रुक गए। यों ये रुके सही परंतु इन्होंने रो दिया—

"हे भगवान्, आप तो एक बार गज की टेर सुनकर उसे ग्राह से बचाने के लिये, नंगे पैरों गरुड़ को छोड़कर दौड़ आए थे आज कहाँ हो? राम राम! बड़ा ही अधर्म है। इस भीषण दृश्य से हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। ऐसी पुण्यभूमि में ऐसा घोर अनर्थ! हाँ! अब मैं समझा! अब इसका कारण मेरे ध्यान में आया। इस ब्रह्मद्रव में निरंतर

निवास करके इन पामरों की ऐसे घोर पापों में प्रवृत्ति क्यों है? क्या पुष्कर में रहकर भी इनके पाप नहीं छूटते हैं? हाँ नहीं छूटते हैं। इसलिये नहीं छूटते कि ये मलयगिरि निवासिनी भिल्लिनियों के समान चंदनतरुशाखा को जलाने पर भी उसकी सुगंधि के रसास्वादन को नहीं जानते। वही स्तन के दूध को त्यागकर रक्त पान करनेवाली जलौका का सा मसला है। यदि हजार वर्ष तीर्थ सेवन करने पर भी किसी ने अपना मन न लगाया तो उसके सिर मारने से क्या लाभ? परंतु क्यों जी गौड़बोले महाशय! इन तीर्थगुरु पुष्कर महाराज को भी ऐसा घोर कर्म स्वीकृत है? बस हद हो गई! हाँ इसलिये मंजूर हो सकता है कि यह गुरू हैं। लोगों को प्रत्यक्ष उदाहरण से दिखा रहे हैं कि पाप का यही प्रायश्चित है। पुण्य संचय का फल स्वर्ग और स्वर्ग में पहुँच जाने पर भी जिनके मनोविकार शमन न हों उनकी यह गति है। अच्छा! होगा! परंतु जब हजारों लाखों यात्री यहाँ आते हैं, हजारों नर नारी यहाँ निवास करते हैं और सैकड़ों ही पशु पक्षियों को इसमें जल पान करना होता है तब सबकी रक्षा का तो कुछ उपाय होना चाहिए।"

"हाँ यजमान, अजमेर के धार्मिक सज्जनों ने एक उपाय सोचा है। वे चाहते हैं कि इन समस्त घाटों के सामने लोहे की जालियाँ लगा दी जायँ ताकि मगर और घड़ियाल उनमें प्रवेश न कर सकें और सब लोग सुखपूर्वक स्नान कर सकें।"

"बेशक उपाय तो उत्तम है परंतु फिर "शुभस्य शीघ्रम्" इतनी देरी क्यों है? यह कार्य तो ऐसा है कि जितना शीघ्र हो सके उतना ही अच्छा है। इसके लिये रुपयों का भी भार अधिक नहीं पड़ सकता क्योंकि साल भर में कम से कम लाख डेढ़ लाख यात्री आते होंगे। यदि वे सुखपूर्वक इस कार्य के लिये चार चार आना भी डालें तो सहज में हजारों रुपये इकट्ठे हो सकते हैं और इस शुभ अनुष्ठान के लिये देश के और भी सुपूत, माई के लाल मुख नहीं मोड़ेंगे।"

"वास्तव में उद्योग का अभाव है। आपस की फूट से विलंब हो रहा है। अब आपके कहने से उन्हें फिर उकसाऊँगा। खूब परिश्रम करूँगा। सफलता परमेश्वर के हाथ है परंतु कार्य यदि सच्चे अंत:करण से किया जायगा तो अवश्य सफलता हमारी चेरी है।"

"नि:संदेह! सच्चे अंत:करण की प्रत्येक कार्य में आवश्यकता है। अंत:करण लगाकर तीर्थ-सेवन न करने का जो फल ग्राह रूप से मिल रहा है वह आपने देख ही लिया।"

इस प्रकार बातें करते करते धरणीधर महाराज इन सब को लेकर देव-दर्शन के लिये वहाँ से रवाना हुए किंतु कोई सौ डेढ़ सौ कदम चलकर इन्होंने जब दो बालक संन्यासियों के दर्शन किए तब पंडित जी एकदम रुक गए।

प्रकरण—५६

पुष्कर में बालक साधु

गत प्रकरण के अंत में पुष्कर की कुंज से चलकर देव-दर्शन के लिये जाते हुए दो साधुओं को देखकर पंडित जी रुक गए थे। उनमें एक की वय १८ साल, गौर वर्ण, विस्तीर्ण ललाट, विशाल वक्षस्थल, गठा हुआ बदन, सिर की जटा कंधे तक लटकी हुई, शरीर पर भस्म रमाए हुए, लाल लाल आँखें और चेहरे से संयम का, तप का अथवा भजन का प्रभाव फूट फूटकर निकलता था। उसके मुख कमल की प्रतिभा देख देख-कर अनायास बोध होता था कि यह ब्राह्मण शरीर है। इंद्रिय-दमन से सुप्राप्त कांति उसके शरीर पर सुचारु रूप से झलक रही थी। मुख पर दाढ़ी मोछ का नाम नहीं और न कानों में कुंडल अथवा छिदे हुए कान। गले में रुद्राक्ष का कंठा अवश्य था। कमर में मूँज की कोंधनी पर लँगोटी और हाथ में एक तुंबी के सिवाय उसके पास कोई वस्तु नहीं थी।

दूसरा साधु, साधु नहीं साधुनी अथवा संन्यासिनी थी। इसकी उमर तेरह साल, वही गौर वर्ण सुंदर, सुडौल और गोल चेहरा, बड़ी बड़ी आँखें। और सब बातें उस साधु से मिलती जुलती, यहाँ तक कि दोनों के चेहरे मोहरे को देखकर एक छोटा सा बालक भी अनायास कह उठे कि ये

दोनों माँ-जाए भाई बहन हैं। केवल दोनों में यदि अंतर था तो इतना ही कि उसका पुरुष शरीर था और इसकी नारी देह। उसने केवल लँगोटी बाँधकर अपनी लज्जा निवारण कर ली थी और इसे अपना शरीर ढाँकने के लिये दस हाथ की साड़ी ओढ़नी पड़ी थी। साड़ी श्वेत नहीं, गेरुई नहीं, केवल भस्म में रँगी हुई खाकी। दोनों के दर्शन करने पर विचारवान् नर नारी अवश्य जान सकते थे कि शिव ब्रह्मादि को, नारदादि महर्षियों को नचानेवाले भगवान् पंचशायक का विश्वविमोहन वायु अभी तक इनके निकट नहीं पहुँचा है। दोनों के मुख पर भोलापन, शांति और विराग ने अपना डेरा डाल रखा था। दोनों हलवाई की दूकान के सामने बैठे हुए बिना तरकारी, बिना अचार, बिना दही पूरियाँ खाते जाते थे और जो सज्जन उन्हें फिर लेने के लिये मनुहार कर रहा था उससे कहते जाते थे कि "बस अब नहीं! अब कुछ नहीं चाहिए। बहुत हो गया। छुट्टी हुई।" इनकी ऐसी निर्लोभता देखकर किसी ने पैसा दिया तो "नहीं," रुपया दिया तो "नहीं" और कपड़ा दिया तो "नहीं"। बस "नहीं" के सिवाय कुछ नहीं।

इन दोनों को सिर से पैर तक कई बार देखकर पंडित जी मोहित हो गए। कुछ इसलिए नहीं कि उनका रूप लावण्य उनके मन में समा गया हो किंतु पंडित जी के अंतःकरण पर सचमुच ही उनका ऐसा प्रभाव पड़ा जैसा अभी तक किसी मनुष्य देहधारी का नहीं पड़ा था। इनकी आकृति, इनकी चेष्टा

और इनके मुखों का भाव स्पष्ट रूप से साक्षी दे रहा था कि "इनका ब्रह्मचर्य अखंड है, काम-विकार अब तक इनके पड़ोस आकर नहीं फटकने पाए। इस घोर कलिकाल में ये बातें एकदम असंभव हैं। भगवान् शंकराचार्य के अतिरिक्त अभी तक कलियुग में दुनिया के पर्दे पर कोई पैदा ही नहीं हुआ जिसने ब्रह्मचर्य के अनंतर गृहस्थाश्रम का, वानप्रस्थ का ग्रहण ही न कर एकदम संन्यास ले लिया हो।" पंडित जी के मन में ऐसे विचार होते ही उन्होंने इनके चरणों में प्रणाम करके पूछा—

"महाराज, यह भोग की बिरियां योग? असंभव को संभव? अनुमान होता है कि पूर्व जन्म के शुभ संस्कार हैं। तप का कोई भाग शेष रह गया है।"

"नहीं पिता! न हम तप जानते हैं और न योग। भगवान् की मर्जी। हमने जन्म लिया तब से इसके सिवाय कुछ देखा ही नहीं। जिस दशा में डाल दिया उसी में पड़े हैं और टुकड़े माँग खाते हैं। पिता की कभी सूरत देखना नसीब नहीं हुआ। छप्पन के अकाल में माता अन्न बिना बिलबिला बिलबिलाकर मर गई। इस बहन का उसने केवल हमारा पेट भरने के लिये एक बूढ़े से विवाह करके साठ रुपए लिए थे, सो भी उसकी बीमारी में कोई बदमाश चुरा ले गया। सत्तावन में ज्वर से पीड़ित होकर वह बूढ़ा भी चल बसा। एक साधु ने हमको पाला पोसा था सो महाराज भिक्षा न

पाकर बासठ में मर गए। शरीर बेशक हमारा ब्राह्मण का है परंतु अब तो भिखारी हैं, दुनिया के टुकड़े ले रहे हैं। दूसरे चौथे जब मिल जाय तब चना चबेना माँग खाते हैं और (दूर से दिखाकर) गुरू की गुफा में पड़ रहते हैं।"

"आपके इस धैर्य को, आपकी इस धर्म-दृढ़ता को धन्य है! परंतु महाराज, बाहर के कुसंस्कार से जब आपको काम बाधाएँ होंगी, भोग विलास की इच्छा होगी और लोग आपको लालच में फँसावेंगे तब ये बातें नहीं ठहरने पावेंगी। इस लिये एक बार गृहस्थाश्रम करो और इस बाई की रक्षा करो। जमाना बहुत नाजुक है।

"हाँ होगा। परंतु अब इच्छा नहीं। हाँ इच्छा विद्या पढ़ने की अवश्य है। कोई हमारे योग्य बातें सिखलानेवाला पंडित मिल जाय तो पढ़ेंगे जिससे रस्ते से चलकर साधना कर सकें।"

"अच्छा ऐसा ही विचार दृढ़ है तो हमारे गाँव में चलो। वहाँ सब प्रबंध हो सकेगा।"

"नहीं बाबा! गाँव में जाकर दुनिया के माया जाल में फँस जायँ तो किया कराया सब धूल में मिल जाय। जो आपने कहा सो सब सच्चा हो जाय।"

"नहीं महाराज, डरिए मत। यहाँ आपको ललचानेवाले, बिगाड़नेवाले बहुत मिलेंगे किंतु वहाँ किसी की मजाल नहीं जो आपको सता सके। एक पहाड़ी पर एक छोटी सी गुफा

रहने को। बिलकुल एकांत वास। वहीं आपके पास भिक्षा पहुँच जायगी और गौड़बोले महाशय आप दोनों को पढ़ा आया करेंगे। आपकी इच्छा न हो तो आप बस्ती में न आना।"

"अच्छा बाबा!" कहकर दोनों इनके साथ हुए और ये लोग भी देव-दर्शन को रवाना हो गए किंतु एक बात पंडित जी के हृदय में समाई नहीं। हजार रोकने पर भी उनसे गौड़बोले को सुनाकर मन का बोझा हलका किए बिना न रहा गया। वह रो रोकर आँसू पोंछते हुए, हिचकियाँ भर भर-कर फिर रुक जाते और फिर कहते हुए गौड़बोले को इस तरह सुनाने लगे—

"ओहो! देश की कैसी दुर्दशा है! भला यह लड़की केवल पेट भरने के लिये, साठ ही रुपये में बूढ़े को न बेच दी जाती तो विधवा क्यों होती? हाय! उन रुपयों की भी, ऐसा पाप कर्म करके केवल पेट भरने के लिये कमाए हुए रुपयों की चोरी? हाय बिचारे नन्हें नन्हें बालकों को छोड़कर भूख की आग में माता का जल मरना घोर अनर्थ है। बस हद हो गई! जिस देश में ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं उसमें, अभी बालक साधुओं की ही भिक्षा बंद करके हमारा सुधारक समुदाय विलायत की नकल करना चाहता है। विलायत में भीख माँगनेवाला सजा पाता है और इस भय से वे लोग जब परिश्रम से पेट भर सकते हैं तब वहाँ की प्रजा अकर्मण्य नहीं होने पाती। यह सत्य है किंतु वह धनाढ्य देश है।

वहाँ जीविका के हजार रस्ते हैं किंतु जिस देश की प्रजा नितांत दरिद्री है वहाँ जीविका के मार्ग खोलने से पहले भीख बंद ? बेशक इस यात्रा के अनुभव ने निश्चय करा दिया कि साधु समुदाय में यदि घुरहू जैसे अनेक नर-पिशाच हैं तो बरुआ गुफावाले महात्मा जैसे सच्चे साधु भी कम नहीं हैं। यदि हिसाब लगाकर देखा जाय तो अधिकांश ऐसे निकलेंगे जो अन्न न मिलने से फकीर बन गए हैं अथवा इच्छा न होने पर भी झख मारकर उन्हें बनना पड़ा है। यदि अब भी भीख बंद करने के लिये कानून बनाकर कृतज्ञता के ख्याली पुलाव पकाने की इच्छा रखनेवाले इसके बदले तीर्थ स्थानों में काशी और हरिद्वार, हृषीकेश के समान सत्र खोलने का उद्योग करें, भिखारियों को समझाकर किसी न किसी प्रकार की उप-जीविका में प्रवृत्त किया जाय तो आधे से अधिक निकल आयँगे। जो अंगहीन, शक्तिहीन, अपाहिज कोढ़ी हैं वे अलग निकल सकते हैं। उनकी रक्षा का स्वतंत्र प्रबंध किया जाय और तब जो निकम्मे, अकर्मण्य अथवा वास्तव में जिनका समाज पर बोझा है उनके लिये उचित रूप पर दबाव न डाल कर कानून का बोझा भी डाला जाय तो अनुचित नहीं। उनको कोई कार्य करने से पहले यह अवश्य सोच लेना चाहिए कि वे उस देश के वकील बनने चले हैं जिसमें केवल एक ही फसल मारी जाने पर लाखों आदमी गवर्मेंट की कृपा के भरोसे अकालमोचन के कामों पर टूट पड़ते हैं।

फिर बालक साधुओं की यदि भिक्षा बंद की जायगी तो इन जैसे निरपराधी भी सताए जायँगे। ऐसे ऐसे झख मारकर पाप कर्म में प्रवृत्त होंगे। इन दोनों ने दिखला दिया कि यदि तलाश की जाय तो इस घोर कलियुग में ध्रुव के समान साधु आज भी मिल सकते हैं। जरा सोचकर—" इतना कहते कहते पंडित जी का गला रुँध गया। वह आगे कुछ न कह सके और इसी अर्से में पितामह ब्रह्मा जी के मंदिर में आरती का टकोरा होते ही "जय जय जय! भगवान् ब्रह्मदेव की जय!!" कहते हुए सब के सब मंदिर के भीतर प्रवेश कर दर्शन का आनंद लूटने लगे। पंडितजी ने विनय की—

"भगवन्, आप देवताओं से लेकर चिउँटी तक के पितामह हैं। जब सृष्टि ही आप से है, जब उसके रचयिता ही आप हैं तब आपको पितामह कहना कौन बड़ी बात हुई। ब्रह्मा, विष्णु और महेश, भगवान् जगदीश्वर के तीन रूप हैं। उत्पन्न करने के समय ब्रह्मा, पालन करती बार विष्णु और संहार करने में महेश—परंतु जब उत्पत्ति ही न हो तब पालन किसका और इसलिये इस त्रिमूर्ति में आपका प्रथम आसन है। यह समष्टि संसार की समष्टि स्थिति के समष्टि विभाग हैं। अच्छा पितामह, यदि हम दुनियादारी का विचार करें तब भी उत्पत्तिकर्त्री माता का पिता से अधिक आदर है। तब प्रभु! यह तो दास को बतलाओ कि भगवन्, आप उस ग्वाल के छोकरे से कैसे हार गए। नहीं महाराज, यह भी आपकी

लीला है। "गोविंद की गति गोविंद जाने।" हम पापी जीव क्या जानें कि कौन हारा और कौन जीता। आप यदि कृष्ण के भक्त हैं तब भी वही हारे क्योंकि भक्तों के भगवान् सदा कनौड़े रहते हैं, आप यदि दादा हैं तब भी वही। अस्तु आप सब प्रकार से सुर-श्रेष्ठ हैं। मेरे इष्टदेव के इष्टदेव हैं क्योंकि मैं लघुमति से नहीं जान सकता कि तीनों में से कौन बड़ा और कौन छोटा? मेरे लिये तीनों समान, तीनों एक और तीनों में से प्रत्येक में तीनों के दर्शन होते हैं। संसार की व्यवस्था के लिये नाम तीन हैं किंतु हैं तीनों ही एक। हे प्रभु! रक्षा करो। मुझे भगवान् की अविचल, अव्यभिचारिणी भक्ति प्रदान करो। मैं आपकी अनंत सृष्टि में एक कीटानुकीट हूँ, पापी हूँ, अपराधी हूँ। रक्षा करो नाथ! रक्षा करो!!" बस इस तरह कहते कहते पंडित जी गद्गद हो गए, उनके नेत्रों से अश्रुधारा का प्रवाह होने लगा और थोड़ी देर के लिये उनका देहाभिमान जाता रहा।

ऐसे दर्शन करके प्रसन्न होकर जब ये लोग मंदिर से लौटे तब गौड़बोले ने एक प्रश्न छेड़ दिया। इन्होंने पूछा कि क्यों पंडितजी, ब्रह्माजी के मंदिर अन्यत्र क्यों नहीं हैं? और देवताओं के एक एक जगह दस बीस मिलेंगे, अधिक मौजूद हैं फिर इनका केवल यहीं क्यों?"

"शास्त्र की सम्मति इसमें कुछ भी हो। जो कुछ है उसे आप भी जानते हैं और थोड़ा बहुत मैं भी! परंतु मेरी समझ में

जिनसे लोगों का स्वार्थ अधिक सिद्ध होता है उसी देवता के मंदिर अधिक बनाए जाते हैं। आजकल की दुनिया परले सिरे की स्वार्थी है। यह ठहरे बूढ़े बाबा। जैसा जिसका कर्म हुआ वैसी उसकी प्रतिमा गढ़ डाली। हां इनसे भी स्वार्थ सिद्ध होते हैं किंतु हजारों वर्ष तप करने पर। और आजकल लोगों का घी खाते ही शरीर चिकना होना चाहिए। बस यही सबब है कि जैसे दुनियादारी में पड़ते ही लोग माता पिता को भूल जाते हैं वैसे ही इनकी गोद में से निकलने के बाद इन्हें याद नहीं करते।"

खैर! इस तरह धर्मचर्चा करते करते पहाड़ी चढ़कर जब यह पार्टी गायत्री जी के मंदिर में पहुँची तब पंडित जी ने भगवती के चरणारविंद में मस्तक नवाकर एकाग्रचित्त से निस्तब्ध होकर माता की इस प्रकार स्तुति की—

"हे जगज्जननी! हे जगदंबा, तुम्हारी क्या स्तुति करूँ? मुझ अभागे, धन के दरिद्री, मन के दरिद्री, तन के दरिद्री और चरित्र के दरिद्री पामर पशु की क्या सामर्थ्य जो आपकी स्तुति कर सकूँ? जिसकी प्रशंसा करते करते ब्रह्मादिक देवता भी नहीं अघाते, जिसे जपते जपते एक कीटानुकीट से ब्रह्मर्षि और देवर्षि बन जाते हैं जिसका जप करनेवाले के लिये त्रिलोकी का राज्य भी तिनके के समान है उसकी स्तुति क्या? और सो भी मुझ जैसा अकिंचन, तुच्छ करे! तेरी स्तुति करना मेरे लिये धरती पर पड़े पड़े आकाशवर्ती चंद्रमा को पकड़ना है, छोटे मुँह बड़ी बात है। जो भगवान् की आदि शक्ति है, जो

वेद भगवान् का सार है, जिसके चौबीस अक्षरों में दशों, चौबीसों अवतार विराजमान हैं उसकी स्तुति क्या ? भक्ति-पूर्वक, एकाग्र चित्त से, निश्चेष्ट होकर यदि तेरा ध्यान किया जाय तो तेरे अक्षर अक्षर में परब्रह्म परिपूर्ण है। तू उस पर-मात्मा का अक्षरमय चित्र है। मैं विशेष क्या कहूँ ? माता सच कहता हूँ तू वास्तव में ब्राह्मण बालकों से रूठ गई है। इसमें दोष तेरा नहीं, मैं छाती ठोककर कहता हूँ हमारा है। हमने तुझको भुला दिया। हममें से अब हजारों लाखों तेरा शुद्ध उच्चारण तक नहीं जानते। कहने में पाप होता है परंतु वे यहाँ तक नहीं जानते कि गायत्री किस चिड़िया का नाम है। यदि दीन दुनिया की हाय हाय छोड़कर नित्य हम लोग तेरा नियमित जप भी कर लिया करें तो आठों सिद्धियाँ, नवों निधियाँ हमारी चेरी हैं। हम ब्राह्मणों को किसी के आगे हाथ पसारना न पड़े, पाई पाई के लिये रिरियाना न पड़े। एक दो नहीं, अब भी सैकड़ों ऐसे देखे जाते हैं जिनका मस्तक केवल तेरे जप के अखंड प्रकाश से देदीप्यमान है। केवल तेरे भरोसे वे संसार को तुच्छ समझते हैं। इसलिये माता, दोष हमारा है। हम कलियुगी हैं, पापी जीव हैं। माता, संसार की स्थिति, लय और पालन करने के लिये माया स्वरूपा हमारा उद्धार करो। हम बुरे हैं तो और भले हैं तो तेरे हैं। हमने न सही तो हमारे पूर्वजों ने तेरे जप की कमाई का बहुत संग्रह किया है। हे माँ ! रक्षा करो।"

बस इस समय भी उनकी वही दशा हुई। केवल उनकी ही क्यों साथ में गौड़बोले भी आज विह्वल हैं। उनकी आँखें पानी बहा रही हैं, उनके रोमांच हो रहे हैं और सचमुच वे माता के ध्यान में मग्न हैं। जब इन दोनों ने अपने आपे को सँभाला तब सब के सब सावित्री के दर्शनकर तीर्थगुरु पुष्कर के घाटों का निरीक्षण करते हुए मन ही मन प्रमुदित होते ताँगों और इक्कों में सवार होते हुए पुष्करराज को प्रणाम करके वहाँ से बिदा हुए। यहाँ इतना लिखने की और आवश्यकता रह गई कि पुष्कर के भिखारी और जगह से भी दो हाथ बढ़कर हैं। वे यदि गाड़ी में सवार होते ही यात्रियों का पिंड छोड़ देते हैं तो पुष्करवाले गाड़ी इक्कों के आगे खड़े हो जाते हैं और जब तक पैसा नहीं पा लेते यात्रियों की सवारी के साथ मीलों तक दौड़े जाते हैं। अस्तु ये लोग उनको दे दिलाकर उन दोनों साधु बालकों को साथ लिए हुए वहाँ से चल दिए और इनके ग्राम में पहुँचने तक कोई घटना ऐसी नहीं हुई जो यहाँ उल्लेख करने योग्य हो। हाँ! जिस समय इनके आने की खबर मिली बस्ती के सैकड़ों नर नारी बाजे गाजे के साथ इन्हें लिवा ले गए और "आगए! आगए!" की आनंद ध्वनि के साथ सब लोगों ने इनका स्वागत किया।

प्रकरण—५७

घुरहू की कुकर्म कहानी

"रे चित्त चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः
पारं गमिष्यति यतो भव सागरस्य ।
पुत्राः कलत्रमितरे नहि ते सहायाः
सर्वं विलोकय सखे मृगतृष्णिकाभम् ॥ १ ॥
अहह जन्म गतं च वृथा मम न यजनं भजनं च कृतं हरेः ।
न गुरुपादसरोरुहपूजनं प्रति दिनं जठरस्य विपोषणम् ॥ २ ॥

"स्वस्ति श्री सकलसदुपमार्ह, भगवद्भक्ति-परायण, पाण्डि-त्याद्यनेकगुण-मंडित, पंडित-मंडली-भूषण, श्रीमत्प्रीतिपात्र, श्रद्धेय पंडित श्री ५ प्रियानाथ जी महाशय योग्य ब्रह्मरूप निकट वर्त्तिनी, भगवान् शंकरप्रिया वाराणसी से कीटानुकीट, अकिंचन दीनबंधु का प्रणामाशीर्वाद ! शं च । जब से आपने गया श्राद्धादि का सविधि संपादन कर भगवच्चरण सरोरुहों के दर्शनों से अपने नेत्रों को सफल और सुफल करने के लिये श्री जगदीशपुरी को प्रस्थान किया आपका मंगल संवाद प्राप्त नहीं हुआ । निश्चय नहीं है कि आप वहाँ कब तक निवास करेंगे और दक्षिण यात्रा का आपने किस प्रकार क्रम स्थिर किया है । अस्तु ! कितनी ही आवश्यक बातें ऐसी हैं

जिनकी सूचना आपको जितनी शीघ्र मिल जाय उतना ही आपको अधिक संतोष होगा।

"प्रधान वक्तव्य यही है कि उस घुरहू नामधारी नर पिशाच को अपनी करनी का फल मिल गया। परमेश्वर यहाँ का यहाँ वर्त्तमान है। अब उसे आजीवन भारतवर्ष की पुण्यभूमि का दर्शन न मिलेगा। ऐसे नराधमों से देश जितना शून्य हो उतना ही कल्याण है। उसने अपने यावत् अपराध अपने ही मुख से स्वीकार कर लिए। जो घटनाएँ मुझे नसीरन रंडी के द्वारा विदित हुई थीं वे लगभग सब की सब सत्य निकलीं। उसके साथ उसके पतवारू, कलवारू और नसीरन को भी दंड मिल गया। खूब छान बीन के अनंतर कलपना नगरी के न्याया-लय ने दूध का दूध और पानी का पानी न्याय कर दिया।

"आप बाबा भगवानदास से कह दीजिए कि अब उसे चिंता करने की आवश्यकता नहीं रही। उसका जैसा विमल चरित्र है वैसा भगवान् सबको दे। निरपराध भगवानदास जिस मिथ्या कलंक से भयभीत होकर दिन रात कुढ़ा करता था उसका कर्ता घुरहू साबित हुआ। प्रयाग में आप लोगों ने जिस साधु की मुश्कें कसते हुए अवलोकन किया था वह घुरहू ही था। वहाँ सिपाहियों के पहरे में से भाग आया था किंतु अंत में उसकी कलई खुल गई। उस नन्हें से बालक का केवल जेवर के लालच से गला घोंटकर प्राण लेनेवाला घुरहू है। भगवानदास ने उसका सत्कार करके अपनी थैली क्या

खोई मानों काषाय वस्त्र पर कलंक लग गया। उसका आतिथ्य करना सचमुच साँप को दूध पिलाना था। उस दुष्ट ने ऐसा घोर पाप करके संन्यासाश्रम से लोगों का विश्वास उठा दिया।

"वह वास्तव में नृशंस है, कृतघ्न है और घोर पापी है। उसने जिस हाँडी में खाया उसी में छेद करना चाहा। यदि साध्वी प्रियंवदा उसका पुत्रवत् पालन करके उसका मैला, कुचैला उठाने में घृणा करती तो वह विष्टा में लिपट लिपटकर अन्न जल बिना बिलबिला बिलबिलाकर तड़प तड़पकर कभी का मर जाता किंतु उसको जब माता पर हाथ पसारते हुए लज्जा न आई तब वह अवश्य नीचातिनीच है, पशु पक्षियों से भी गया बीता है। उसने स्वयं स्वीकार कर लिया कि—

"मेरी आँख प्रियंवदा पर बचपन से ही थी। जिस समय वह जननी बनकर प्लेग की घोर पीड़ा के समय मेरा पुत्र की तरह पालन पोषण करती थी उस समय भी मैं उसे बुरी नजर से देखता था। दो एक बार मैंने अपनी पाप वासना तृप्त करने के लिये खोटी चेष्टा से, खोटा प्रस्ताव करके उसे छेड़ा भी परंतु जब उसका रुख न देखा तब सन्निपातवाले रोगी की नाईं वाही तबाही बककर उसका संदेह निवृत्त कर दिया। उसके ऐसे मातृभाव का बुरा बदला देकर दीन दुनिया से भ्रष्ट हो जानेवाला मैं हूँ। वैसे ही रेल-पथ में एक बार

जनानी गाड़ी में और दूसरी बार प्रयाग स्टेशन पर उसे छेड़कर हँसा देनेवाला भी मैं ही हूँ।

'आपको शायद विश्वास न होगा कि जब प्रियंवदा ने इतने दिन मातृभाव से मेरी सेवा की थी तब उसने मुझे रेल-गाड़ी में, प्रयाग स्टेशन पर और अंत में नौका में पहचाना क्यों नहीं? इसमें उस बिचारी का कुछ दोष नहीं। वह तो वह किंतु यदि मैं भेष बदल लूँ तो मेरे माता पिता, मेरी स्त्री और देवता तक मुझे नहीं पहचान सकते। मैं केवल भेष ही नहीं बदलता हूँ किंतु भाव बदलने का, आकृति बदलने का और बोली बदलने का मुझे अच्छा अभ्यास है। मैंने इस काम के लिये सामान इकट्ठा करने में हजारों रुपए फूँक डाले हैं, बड़े बड़े उस्तादों की ठोकरें खाई हैं। इससे आप समझ सकते हैं कि प्रियंवदा के बचपन में जब मैं उससे उसके मैके पर मिला करता था तब और था, प्लेग के संकट से जिस समय उसने मेरे प्राण बचाए तब और, रेल में मैंने जब उससे छेड़ छाड़ की तब और, और नाव में मैं दिखलाई दिया तब और, किंतु जब मैं पकड़ा गया तब उसने मुझे पहचान लिया था।

'रेल-यात्रा में जब वह मेरी मीठी मीठी बातों से काबू में आती दिखलाई न दी तब अवश्य मैंने उसे बचपन की झलक दिखला दी थी। उसके हँस कर, रोते रोते मुसकुराकर "निपूता यहाँ भी आ मरा।" कह देने का भी यही कारण था। आप शायद पूछेंगे कि बचपन की ऐसी कौन सी बात

थी जिसके स्मरण होते ही दुःख के समय भी, भय की बिरियाँ भी प्रियंवदा हँस पड़ी। उसके पति को यह भेद मालूम होगा तब ही उन्होंने मेरे ऐसा अनुचित बर्ताव करने पर भी हँसकर टाल दिया नहीं तो वे अवश्य मुझे प्रयाग के स्टेशन पर पीटे बिना न छोड़ते। कांतानाथ को मेरी हरकत अवश्य बुरी लगी थी। तब ही उन्होंने मेरी लातों और घूँसों से खबर ले डाली। उनकी लातें और घूँसे अब तक कसकते हैं। उनके चेहरे के भाव से स्पष्ट होता था कि उन्हें प्रियंवदा के हँसने से उस पर संदेह हो गया है।

'अच्छा आप यह पूछेंगे कि वह बचपन की कौन सी बात थी जिसे सुनते ही प्रियंवदा हँस उठी। बात कुछ नहीं थी। कुछ बात हो तो कहूँ! बात यही थी—"मोरी में का बेर।" आप शायद इससे यह समझ बैठें कि उसने कभी मोरी में से उठा-कर बेर खा लिया होगा। नहीं! सो बात नहीं थी। वह जन्म से ऐसे घर में पली थी कि यदि उसके माता पिता को इस प्रकार का झूठा भी संदेह हो जाय तो वे उसे गोमूत्र पिलाते पिलाते और गोबर खिलाते खिलाते अधमरी कर डालें।

'बात इस तरह पर थी कि जिस समय मेरी उमर तेरह चौदह वर्ष की और उसकी सात आठ वर्ष की होगी, मैं अपने पिता के साथ उसके गाँव में सात आठ महीने रहा था। हम दोनों के घर एक दूसरे से बिलकुल सटे हुए थे और हजार मुझे पिताजी मारते पीटते परंतु मुझे आवारा भटकने के

सिवाय पढ़ने लिखने से कुछ मतलब नहीं था। बुरी संगत में बैठने से मेरी नियत खराब हो गई थी और उसी कच्ची उमर में चाहने लगा था कि मैं प्रियंवदा को अपनी प्राणप्यारी बनाऊँ! परंतु जाति-भेद के कारण, और मेरे दुराचार से यह बात एकदम असंभव थी। बस इसी लिये उस कच्ची कोंपल को ही तोड़ खाने का मैंने इरादा किया। इस इरादे से मैं उसे छेड़ा करता था, उसके साथ बुरी बुरी चेष्टाएँ करता था और बुरे बुरे प्रस्ताव करता था परंतु वह केवल सात आठ वर्ष की बालिका क्या जाने कि मेरा क्या मतलब है। आजकल सात आठ वर्ष की लड़कियाँ भी खोटी संगति में रहकर सुनने सुनाने से, देखने भालने से बहुत कुछ जान जाती हैं और गालियों का पाठ पढ़ाकर अपढ़ स्त्रियाँ उन्हें सब बातों में पहले से होशियार कर देती हैं किंतु उस तक इसकी हवा भी नहीं पहुँची थी। जब मैं उसे छेड़ता तो वह अपने भोलेपन से या तो हँस दिया करती थी या बहुत हुआ तो निपूते, निगोड़े और मुए की गाली देकर, पत्थर मारकर भाग जाती थी। किंतु ऐसे गाली और पत्थर खाने ही में मुझे आनंद था।

'हाँ! तो "मोरी में के बेर" की घटना इस तरह पर हुई कि एक दिन उसके पिता ने पेंसिलें खरीदने के लिये उसे पैसा दिया। बालिका तो थी ही, पैसे को आँचल से बाँधने की जगह वह उसे उछालती उछालती जाने लगी। पैसा संयोग

से मोरी में गिर गया। मोरी में पड़ा हुआ पैसा वह कदापि न उठाती परंतु इधर उधर अच्छी जगह में गिर गया हो तो उठा लूँ, इस इच्छा से जब वह उसे आँखें फाड़कर ढूँढ़ रही थी तब ही मैं वहाँ आ पहुँचा। मैं उसे अकेली पाकर "जान साहब" कह दिया करता था और वह भी इसका मतलब न जानकर नाराज होने के बदले हँस दिया करती थी। उस दिन जब उससे मैंने ऐसा कहा तो उसने "अथ" से लेकर "इति" तक सारा किस्सा सुनाने के अनंतर "भैया तू भी ढूँढ़" कहकर रो दिया। मैंने उसे दिलासा देकर गोदी में उठाया, अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछे और "जान साहब रोओ मत! पैसा गया तो तुम्हारे लिये रुपया हाजिर है।" कहते हुए जेब में से रुपया निकालकर उसे देते हुए ज्योंही मैंने उसके गालों का चुंबन करने के लिये मुँह फैलाया त्योंही वह मेरी गोदी में से छटककर भागी और यह कहती हुई भागी कि "निपूता यहाँ भी आ मरा।" बस इससे मैंने समझ लिया कि यदि यह अपने घरवालों को खबर दे देगी और इस बात को मेरे पिता जान जायँगे तो पिटते पिटते मेरी जान निकल जायगी। मैं झूठी बातें बनाकर अपना बचाव कर लेने में उस्ताद हूँ। बस इसी समय मैंने उससे कह दिया कि मोरी में से बेर उठाकर यह खा रही थी, मैंने इसे पकड़-कर छीन लिया। बस इसी लिये पिटने के डर से मुझ पर इलजाम लगाती है। वास्तव में वह माता पिता की मार

से बहुत डरती थी। इस कारण उसने अपने घरवालों से सब हाल छिपाया। मुझे इस बहाने से उसे छेड़कर राजी करने का अच्छा मौका मिल गया। "मोरी में का बेर" कहकर मेरी देखा देखी और भी लड़के लड़की उसे चिढ़ाने लगे और यों उसकी चिढ़ पड़ गई।

'अब मैं अपने किए पर बहुत पछताता हूँ और यदि सरकार आनकर मुझको इस बार क्षमा कर दे तो आगे से कुकर्म न करने की कसम भी खाता हूँ......,"

* * * * * * * * * * * * *

पंडित दीनबंधु के पत्र में इस प्रकार की बातें पढ़कर कांतानाथ बहुत ही अपने मन में लज्जित हुए। एक साध्वी पतिव्रता माता समान भाभी के निष्कलंक होने पर उसके चरित्र पर संदेह करने पर वह पछताए और प्रियंवदा के चरणों में सिर रखकर उन्होंने बारंबार क्षमा माँगी। "अंत भला सो भला।" कहकर प्रियंवदा ने देवर को संतुष्ट किया और यों उसके चित्त में जो एक मिथ्याभिशाप की चिंता की आग सुलगा करती थी वह दीनबंधु के पत्र से बुझ गई। उसने रात्रि के समय प्राणनाथ के चरण चापते चापते उनका चित्त प्रसन्न देखकर यह सारा प्रसंग सुनाने के अनंतर हँस-कर उनसे कहा—

" नाथ, अब मेरे जी में जी आया। अब जीकर आपके चरण कमलों की सेवा करना सार्थक है। यद्यपि आपने

कई बार मुझे संतुष्ट भी कर दिया था और आपने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि आप मुझे निर्दोष समझते हैं परंतु जब तक छोटे भैया का संदेह न निकले, मेरा दुख दूर नहीं होता था, मुझे दिन रात कल नहीं पड़ती थी।"

"हाँ बेशक! ऐसा ही है। चलो अच्छा हुआ। उसका भी संदेह निकल गया।"

"जी हाँ! उनका संदेह तो निकल गया परंतु आपने बनारस में ही सब के सामने इस बात को प्रकाशित क्यों न कर दिया? यहाँ तक कि आपने प्रकाशित न करने का कारण भी न कहा। क्या मुझे चिढ़ाने के लिये?

"नहीं! तुझे चिढ़ाने के लिये नहीं! केवल इसलिये कि यदि यह बात अपराधी के मुँह से प्रकाशित हो तो अधिक अच्छा!"

"अच्छा! अब मैं समझी! परंतु अच्छा हुआ उस दुष्ट को भी सजा मिल गई। ऐसे पामर को फाँसी पर लट-काना चाहिए था।"

"हाँ जैसा करता है वैसा पा लेता है। अब हमें क्या मतलब! और मेरी समझ में जन्म भर दुःख पाना फाँसी से भी बढ़कर सजा है। वकीलों की दलील ने कानूनी बारीकी से उसे बचा लिया!"

"कानूनी बारीकी क्या?"

"और अपराध तो उसके प्राणदंड देने योग्य थे ही नहीं। उस बच्चे को मारने का अपराध था। उसमें उसका इरादा साबित न हुआ होगा। बस यही कानूनी बारीकी!"

"खैर, हो गया! गया दुष्ट काले पानी!"

"कहीं जावे। भगवान् अब भी उसे क्षमा करें। यातनाएँ भोगने से वह सँभले और फिर कभी ऐसे पापों में प्रवृत्त न हो। सब के भले में अपना भला है।"

"हाँ बेशक शत्रु पर दया करनी ही सच्चा हिंदूपन है।"

इस तरह बातें करते करते दोनों सो रहे।

प्रकरण—५८

राग में विराग

अनेक मास तक भक्तिपूर्वक भारत के अनेक तीर्थ स्थलों में विचरकर दुनिया का अनुभव और परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के अनंतर पंडित जी घर आ गए हैं। यात्रा का फल भी इन्हें अच्छा मिल गया। प्रियंवदा की मनोकामना पूर्ण हो गई। भगवान् ने उसको पुत्र प्रदान किया। सुखदा के भी गिरते गिरते सँभल जाने पर, उसके पश्चात्ताप से, उसके अटल व्रत ने और उसके प्रायश्चित्त ने पितृपिंड का भक्षण करने के केवल एक मास के भीतर ही भीतर शुभाशा का बीजारोपण कर दिया। बीज से अंकुर, अंकुर से वृक्ष और वृक्ष में पुष्प लगकर फल भी उसे मिल गया। फल भी ऐसा वैसा नहीं। मधुर फल। प्रियंवदा के कमलानाथ और सुखदा के इंदिरानाथ के जन्म होने में केवल तीन मास सत्रह दिन का अंतर था। पंडित प्रियानाथ जो ही घर में कर्त्ता धर्त्ता और वह दृढ़ सनातन धर्मावलंबी। गौड़बोले ने जब शुभ संतान होने का भार उन पर डाल दिया और जब उनका सिद्धांत ही यह था कि संस्कारहीन बालक किसी काम के नहीं होते, उनके पैदा होने से न होना अच्छा है, वे सचमुच अपने पुरखाओं को तारने के बदले स्वयं नरक में

पड़कर उन्हें भी धर घसीटते हैं, तब दोनों बालकों के लिये सीमंत, पुंसवन आदि संस्कार यदि ठीक समय पर शास्त्रविधि से किए गए हों तो आश्चर्य क्या ? यों संस्कार सब ही किए गए और सो भी आडंबरशून्य क्योंकि पंडित जी को दिखावट पसंद नहीं, बनावट पसंद नहीं। केवल शास्त्रीय संस्कार ही नहीं बरन् उनकी इच्छा थी कि गर्भधारण करने के समय दंपती के शुद्ध चित्त हों, उनके मन में विकार न हों, शरीर में दैहिक, दैविक और भौतिक विकार न हों। गर्भधारण करने के समय से स्त्री की इन सब बातों से रक्षा की जाय। वह सदा प्रसन्न बदन, प्रसन्न मन रहे, कोयले, राख, खपरे और अखाद्य पदार्थों का सेवन न करने पावे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय और शोकादि विकारों से रहित रहे तो अवश्य ही संतान उत्तम होगी। पैदा होने के समय से बालक के अंतःकरण में खोटे संस्कार न पैदा होने देने चाहिएँ। पंडित जी ने प्रियंवदा को अच्छी तरह समझा दिया, कांतानाथ को अमुक अमुक ग्रंथों का अवलोकन करने का संकेत कर दिया और कुछ पति से और कुछ जीजी से सुखदा ने भी जान लिया।

बस इन बातों के पालन करने का फल यह हुआ कि दोनों बालक रूप, गुण संपन्न पैदा हुए। अब सुखदा प्रियंवदा को जीजी कहकर पुकारती है और वह उसे कभी बहन, कभी छोटी और कभी बहुत प्यार में आ जाती है तो सुखदिया

कह देती है। दोनों में सगी बहनों से भी बढ़कर प्रेम है। यों मूर्ख, लड़ाकू और कलहिनी स्त्रियाँ लड़ाई मोल ले लेकर आपस में उलझ पड़ती हैं। हवा से लड़ने लगती हैं। सुखदा भी पहले इन बातों के लिये सरनाम थी। परंतु अब इनमें न पैसे के लिये लड़ाई है, न बालकों के लिये लड़ाई है और न काम काज के लिये। काम काज करने के लिये "मैं करूँगी! मैं करूँगी" की कभी प्रेमपूर्वक उलझन हो जाय तो जुदी बात है किंतु सब अपना अपना काम पहले से कर लेती हैं। अपना करके दूसरी का भी करने दौड़ती हैं। "रुपए पैसे और खर्च की बात आदमी जानें। हमें कुछ मतलब नहीं। जो काम हमारे जिम्मे के हैं उनका ही निपटना कठिन है।" यही दोनों की राय है। अब काम से अवकाश निकालकर सुखदा जीजी से पढ़ना लिखना सीखती है, सीना पिरोना सीखती है और दस्तकारी के अनेक काम सीखती है। बालकों के पालन पोषण में नौकर नौक-रानियों तक को यह मालूम नहीं होने पाता कि कौन किसका बच्चा है। उन बच्चों में भी न मालूम क्यों नैसर्गिक प्रेम है। दोनों खाते साथ हैं, सोते साथ हैं, जागते साथ हैं, रोते साथ हैं और दूध पीने का भी उनका एक विचित्र ढंग है। एक बच्चा जब एक घूँट पी लेता है तब दूसरे की ओर इशारा करता है। हजार कोशिश करो किंतु जब तक दूसरा एक घूँट न पी ले तब तक वह कटोरी मुँह को छूने तक नहीं देता।

उनका ऐसा प्रेम देखकर पंडित पंडितायिन में कुछ हँसी भी होती है। उनकी सख्त ताकीद है कि कभी कोई काम ऐसा न करो जिससे बालक चिड़चिड़ा हो जाय। खबरदार किसी ने डरने की, झूठ बोलने की और इस तरह की बुरी आदत डाली तो! रात को यदि उन्हें पेशाब पायखाने की बाधा हुई तो रो रोकर माता को जगा देंगे परंतु कपड़े बिगाड़ने का वास्ता नहीं। मैले कुचैले से उन्हें बचपन से ही घृणा है। दोनों बच्चे ज्यों ज्यों बड़े होते जाते हैं त्यों त्यों शक्ति के अनुसार शारीरिक परिश्रम की उनमें आदत डाली जाती है। अब वे खूब दौड़ धूप करते हैं, वर्जिश करते हैं, गेंद बल्ला खेलते हैं और धीरे धीरे बलिष्ट, हृष्ट पुष्ट और सदाचारी, माता पिता के भक्त बनते जाते हैं। शिष्टों का सत्कार, समान से प्रेम और छोटों पर दया उन्हें सिखलाई जाती है। नित्य प्रातःस्मरण करना, परमेश्वर की भक्ति करना उनके कोमल अंतःकरण में ठेठ से ही अंकित कर दिया गया है। जब से उनका उपवीत हो गया है स्नान संध्या उनका प्रधान कर्तव्य है। उनकी मजाल नहीं जो इन कामों में अतिक्रम कर दें। पंडित जी को मारने पीटने से पूरी पूरी घृणा है इसलिये कोई उन पर हाथ नहीं उठाने पाता परंतु इसका यह मतलब नहीं कि वे दुलार में आकर बिगड़ जायँ। शिष्टों का नाराज होना ही उनके लिये भारी भय है।

उनकी शिक्षा दीक्षा का कार्य गौड़बोले के सिपुर्द है। पंडित जी ने उनको हिदायत कर दी है कि आवश्यकता और

समय के अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन भले ही कर दिया जाय परंतु बालकों को उसी ढंग की शिक्षा मिलनी चाहिए जैसी "हिंदू गृहस्थ" में हरसहाय को दी गई है। जब तक विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली का उचित संशोधन न हो जाय तब तक पास का पुछल्ला लगाना वह चाहे अनावश्यक, निरर्थक, निकम्मा, हानिकारक और बोझा ही क्यों न समझें किंतु जब आजकल परीक्षा के बिना योग्यता की नाप नहीं होती और हर जगह सार्टिफिकेट रूपी लकड़ी की तलवार अपेक्षित होती है तब स्कूल और कालेज की शिक्षा दिलाए बिना काम न चलेगा। इस बात को पंडित जी अच्छी तरह जानते हैं किंतु "हिंदू गृहस्थ" के अनुसार बालक को सदाचारी, धार्मिक और कार्यकुशल बनाने के लिये, कमाऊ पूत बनाने के लिये जिन बातों की आवश्यकता है उन्हें पहले घर पर सिखा पढ़ाकर तैयार कर देना चाहिए। इसी उद्देश्य से पंडित जी ने दोनों बालकों को पहले घर पर शिक्षा दिलाई और फिर परीक्षा दिलाकर डिगरियाँ दिलाईं।

इस तरह तैयार होकर क्योंकर बड़े कमलानाथ और छोटे इंदिरानाथ परमेश्वर की भक्ति में, माता पिता की सेवा करने में, कुटुंब का पालन करने में और लोकोपकार में प्रवृत्त हुए, कब और किस तरह से कहाँ किस किस के साथ उनके विवाह हुए और कैसे उन्होंने दुनिया की नीच ऊँच देखकर अनुभव प्राप्त किया, सो नमूना खड़ा कर देना एक जुदे उप-

न्यास का विषय है। मैं नहीं कह सकता कि इस बात का यश किसे मिलेगा। हाँ साहित्य का मैदान तैयार है और लेखनी के घोड़ों की बाग भी ईश्वर की कृपा से अब एक नहीं, अनेक लेखकों के हाथ में है। यदि इस कार्य में किसी को सफलता का यश लेना हो तो कल्पना के भरोसे अच्छी खासी "राम लक्ष्मण की जोड़ी" तैयार हो सकती है, वाल्मीकीय रामायण के से मर्यादापुरुषोत्तम नहीं क्योंकि उसमें कल्पना का लेश नहीं, वह उपन्यास नहीं इतिहास है। रामलीला के से राम लक्ष्मण नहीं क्योंकि उसमें भगवान् के चरित्रों की छाया है किंतु आजकल के समय के अनुसार दो भाइयों की जोड़ी, सज्जनों की जोड़ी, धार्मिकों की, लोकोपकारकों की जोड़ी की कथा कही जा सकती है।

अस्तु! यहाँ इतना अवश्य लिखना चाहिए कि अपनी योग्य संतानों को निरखकर पंडित, पंडितायिन, कांतानाथ और सुखदा राग में प्रवृत्त नहीं हो गए हैं। कांतानाथ जब छोटे भाई और सुखदा जब छोटी बहू है तब उन्हें औरों के आगे हिंदू गृहस्थों की प्राचीन परिपाटी के अनुसार प्रेम विह्वल हो जाने का अवसर ही क्यों मिलने लगा! दंपती जब अकेले होते हैं तब आपस में आमोद प्रमोद की बातें करते हैं, हँसी दिल्लगी करते हैं और अपने लड़के का प्यार भी करते हैं किंतु भाई भौजाई के समक्ष नहीं, बड़े बूढ़ों के सामने नहीं। कभी बालक का हँसना बोलना देखकर भौजाई के सामने कांता-

नाथ की कली कली खिल उठती है। रोकते रोकते वे मुस-कुरा भी उठते हैं परंतु प्रियंवदा से चार नजरें होते ही शर्मा-कर भाग जाते हैं और यदि विनोद में विनोद बढ़ाने के लिये हँसकर उसने बुलाया भी तो "भाभी तुम भी लड़के से हँसी करती हो! तुम माता के बराबर हो! तुम्हें ऐसी हँसी शोभा नहीं देती।" कहकर आंखें झुका लेते हैं। बस इस तरह की लज्जा से हिंदू गृहस्थ का आनंद है, इसमें भले घर की शोभा है। कुछ इससे बड़ाई नहीं कि बड़ों के सामने, "बेटा, मुन्ना, लाला, राजा!" कहकर बालक के गालों का चुंबन करें, पति पत्नी हँस हँसकर आपस में बातें करें।

खैर! प्रियंवदा एक साथ दो दो बालकों को निरखकर यदि आनंद में, सुख में मग्न है, यदि वह फूले अंग नहीं समाती है तो अच्छी बात है। भगवान् ने उसे अतीव अनुग्रह करके वर्षों तक राह तकते तकते ऐसा सुख प्रदान किया है और वह उसका उपयोग करती है किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि पह पतिसेवा से उदासीन हो गई है। लोग कहते हैं कि प्रेम में द्विधा विष रूप होती है। परंतु दोनों प्रेमपात्रों के प्रेम ही दो भिन्न प्रकार के हों तब द्विधा कैसी! फिर "आत्मा वै जायते पुत्रः" इस सिद्धांत से जब वह प्यारे पुत्र की चाल ढाल में, रहन सहन में, बोल चाल में और सूरत शकल में स्वामी की छाया देख रही है तब कहना पड़ेगा कि परमेश्वर के अवतार की जैसे छाया अंतःकरण की दूरबीन से

देखने पर मूर्ति में दिखलाई देती है और दर्शन होते ही साक्षात् करने का अनुभव हो उठता है वैसे ही वह क्षण-क्षण में पुत्र के शरीर में पतिदर्शन का आनंद लूट रही है, किंतु जैसे भगवान् के साक्षात् दर्शन होते ही मनुष्य को मूर्ति की अपेक्षा नहीं रहती उसी तरह पति का दर्शन होते ही वह अपने आपे को भूल जाती है, पुत्र को भूल जाती है और सब कुछ भूल जाती है। बस जिधर देखो उधर पति परमात्मा।

इस तरह यदि पाठक प्रियंवदा में राग का उदय समझ लें तो उनकी इच्छा है। राग स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है। पातिव्रत का प्रधान प्रयोजन ही राग है और इस प्रकार का राग ही साध्वी ललनाओं की गति है क्योंकि पति को जब वे साक्षात् परमात्मा मानती हैं तब वही उनकी गति है। जब कीड़ा भौंरे के भय से ही भ्रमर बन जाता है तब इस तरह पति की आत्मा में पत्नी अपनी आत्मा को जोड़ दे तो क्या आश्चर्य ! इसी लिये पति पत्नी के दो भिन्न भिन्न शरीर होने पर भी पत्नी अर्द्धांगिनी कहलाती है। यदि ऐसा न हो तो दोनों के शरीर को सी नहीं दिया जा सकता, दोनों का खड़ा चीरकर एक दूसरे से जोड़ नहीं दिया जा सकता !

किंतु पंडित जी स्त्री-सुख में, पुत्र-सुख में और गृहस्थाश्रम में मग्न रहने पर भी 'जल कमलवत्' अलग हैं। समय पड़ने पर वह यदि राग दिखलाते हैं तो हद दर्जे का और बुरी बातों से उनका द्वेष दिखलाई देता है तो सीमा तक, किंतु उनके

अंतःकरण में न राग के लिये स्थान है और न द्वेष की वहाँ तक गुजर है। जब वह अपने कर्तव्यपालन में पक्के पंडित हैं तब कोई उनके बर्ताव को देखकर नहीं कह सकता कि वह कच्चे दुनियादार हैं किंतु यदि किसी के पास किसी का मन परखने का कोई आला हो, यदि "एक्स रे" जैसे पदार्थ की सृष्टि से शरीर के भीतरी भाग की तरह मन का निरीक्षण करने की किसी को सामर्थ्य हो तो वह कह सके कि उनका अंतःकरण इन बातों से बिलकुल कोरा है। उसमें भगवान् की भक्ति, प्रभु के चरणारविंदों से प्रेम ओतप्रोत, लबालब भरा हुआ है और कहना चाहिए कि जिस मनुष्य में यह बात हो, ऐसी अलौकिक अनिर्वचनीय अखंड संपदा जिसे प्राप्त हो वह सच-मुच ही जीवन्मुक्त है, उसके लिये वानप्रस्थ आश्रम की आव-श्यकता नहीं, उसके लिये संन्यास कोई पदार्थ नहीं।

लोकाचार में पड़े रहने से यदि किसी को इस बात की थाह मिल जाय तो उनके इस ब्रह्मसुख में विघ्न उपस्थित हो इसलिये वह अपने मन के भावों को गुप्त रखते हैं। काशी, प्रयाग, मथुरा और पुरी तथा गया की भाँति उनके भक्ति-रसामृत का प्याला किनारे तक, सींक उतार भरा रहने से कभी कभी झलक भी उठता है और जब झलक उठता है तब लोग उनको न परखकर उन्हें पागल भी समझ बैठते हैं, किंतु उन्हें इन बातों से कुछ मतलब नहीं। वह इधर दुनियादारी में खूब रँगे हुए हैं और उधर प्रेम सरोवर में

गोते लगाया करते हैं। उनका सिद्धांत यही है किंतु वह अपने मन को—

"पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य
दिङ्मंडलं भ्रजसि मानस चापलेन।
भ्रांत्या तु यातु विमलं न तदात्मनीनं
तद्ब्रह्म संस्मरसि निर्वृतिमेषि येन॥"

की रट लगाकर प्रबोध दिया करते हैं।

प्रकरण—५६

ब्राह्मणों की जीविका

"अभी तो आपको यहाँ आए जुम्मा जुम्मा आठ ही दिन हुए हैं! अभी से उतावल?"

"आठ दिन क्या थोड़े हैं? मुझे तो आठ दिन आठ युग के बराबर बीत गए। खाली बैठे दिन पहाड़ के समान व्यतीत होता है। फिर जिस आदमी का घर नहीं, बार नहीं, जोरू नहीं, जाता नहीं, पैसा नहीं, कौड़ी नहीं—उसका विश्राम ही क्या? और काम ही क्या? "जहाँ पड़ा मूसल वहीं खेम कूसल" नित्य कमाना और नित्य खाना।"

"नहीं महाराज! आपके कुछ भी क्यों नहीं? सब कुछ है। यह घर आपका है, हम सब आपके हैं, आप बड़े हैं, पूज्य हैं, मुरब्बी हैं। आप बड़े भाई के समान हैं, उनसे भी बढ़कर। फिर ऐसा नहीं हो सकता कि हम आपको यहाँ से जाने दें। घर ठाकुर जी का है, हमारा क्या है? जैसे आप वैसे हम।"

"सचमुच आपका स्नेह अद्वितीय है। मैं भी आपको छोड़कर नहीं जाना चाहता। दुनिया में मेरा है ही कौन जिसके पास जाकर माथा मारूँ? नसीब से कहीं सिर भी दुखने लगे तो कोई पानी पिलानेवाला नहीं। शरीर छूट जाय तो उठाकर जला देनेवाला नहीं! पड़ा पड़ा सड़ा करूँ

ता कोई खबर पूछनेवाला नहीं ! परंतु यहां बिना काम काज के, खाली बैठे रोटियाँ तोड़ना मुझसे नहीं बन सकेगा ।"

"नहीं ! नहीं ! आप कभी रोटियाँ तोड़ना न समझिए। भगवान् के घर में आप अधिक और मैं कम। फिर आपके लिये काम भी मैंने सोच लिया है। वास्तव में काम बिना आदमी निकम्मा हो जाता है, किसी काम का नहीं रहता, बिलकुल रद्दी। जो कुछ काम नहीं करता वह पाप करता है। और हम पैदा भी तो काम करने के लिये, कर्तव्यपालन के लिये हुए हैं, भोग विलास के लिये नहीं। सच पूछो तो अपने कर्तव्यपालन में जैसा सुख है वैसा और किसी में नहीं। इसके सामने त्रिलोकी का राज्य मिट्टी है, लाख रुपए के नोट रद्दी हैं, षोड़शी रमणी धूल है। जो आनंद अपने कर्तव्य-पालन में सफलता हो जाने पर होता है वह सचमुच अलौ-किक है। यदि हम लोग इस बात में दृढ़ हो जायँ तो बस हमने विश्व को जीत लिया। सफलता और निष्फलता, परिणाम परमेश्वर के हाथ सही किंतु हमें फल की आकांक्षा पर राग द्वेष छोड़कर काम करते रहना चाहिए।"

"हां ! आपका कथन सही है। मैं भी ऐसा ही मानता हूँ। परंतु काम क्या सोचा है ? देखूँ तो मैं उसे कर सकता हूँ या नहीं ? क्योंकि जब मैं जानता कुछ नहीं तब ऐसा काम ही क्या होगा जिसे मैं कर सकूँ ? हाँ थोड़ा बहुत कर्मकांड अवश्य जानता हूँ परंतु अब इससे गुजर होना कठिन है।

प्रथम तो हिंदुओं के दुर्भाग्य से अब इससे श्रद्धा ही उठती जाती है फिर जो कुछ, थोड़ी बहुत, बची बचाई है भी उसे मूर्ख ब्राह्मणों का दल नष्ट कर रहा है।"

"बेशक आप ठीक कहते हैं। अब केवल इस पर आधार रखना अच्छा नहीं। संस्कृत अवश्य पढ़नी चाहिए, कर्मकांड में अच्छी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए और जो भावुक यजमान मिल जाय तो उसे कराना भी चाहिए। किंतु कर्मकांड सीखना अपना पेट भरने के लिये नहीं है। वेदादि शास्त्र पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना और दान देना, लेना ब्राह्मणों के ये छः कर्म हैं। वेद पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना केवल अपने कल्याण के लिये और वेद पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना उपजीविका के लिये है। मेरी समझ में अपने कल्याण के लिये तीनों कर्म तो करने ही चाहिएँ। इनके बिना ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं, किंतु जीविका के लिये जिन कर्मों की विधि है यदि उन्हें कम कर दिया जाय, रोक दिया जाय तो फिर भी ब्राह्मणों का पहले का सा आदर हो सकता है। जो वस्तु दुर्मिल है, अधिक परिश्रम से मिल सकती है उसका आदर अधिक होता है। हमारे प्राचीन ऋषि महर्षियों की पर्णकुटियों पर बड़े बड़े राजा महाराजा महीनों तक जा जाकर जब टकराते थे, खुशामद करते थे तब कहीं मुशकिल से वे लोग यज्ञ कराना, दान लेना स्वीकार करते थे। पितामह ब्रह्मा के समझाने पर महर्षि वशिष्ठजी ने सूर्यवंश की पुरोहि-

ताई केवल इसलिये स्वीकार की थी कि उसमें भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचंद्रजी का जन्म होनेवाला था। यदि अब भी हम लोग दान दक्षिणा के लिये यजमान के द्वार पर घंटों तक रिरियाने, हाथ फैलाने से हाथ खैंच लें तो निःसंदेह उन ऋषियों का सा आदर पा सकते हैं, जो लोग हम पर स्वार्थ का कलंक लगाते हैं उनके मुख पर अच्छी खासी चपत लग सकती है। भगवान् विश्वंभर है। राजा और रंक को भूखा जगाता है, भूखा सुलाता नहीं। ब्राह्मणों में अब भी सैकड़ों, हजारों ऐसे हैं कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं जो ब्राह्मणों की वृत्ति नहीं करतीं, इस जीविका से पेट नहीं भरतीं, उनका योगक्षेम अच्छी तरह चलता है। वे दान लेनेवालों से अच्छे हैं। यदि हम लोग केवल आत्मकल्याण के लिये वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करें, यथाशक्ति यज्ञादि कर्म करते रहें और योग्यों को दान दें तो ऐसे धंधों से जिनके करने से ब्राह्मणत्व पर दोष न आवे अपना अच्छी तरह निर्वाह कर सकते हैं। अब भी ब्राह्मणों में भगवान् भुवनभास्कर का सा ब्राह्मणत्व प्रकाशमान है। ऐसा करने से उनका महत्त्व बढ़ेगा, और उनके सदाचार से, उनकी सुशिक्षा से, उनकी निःस्वार्थता से संसार उनके पैरों पर मस्तक नवावेगा। अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है, अब भी नई रोशनीवालों में, नई नई उन्नतियों, राज-दर्बारों में, और और वर्णों से ब्राह्मणों का ऊँचा आसन है। जो कार्य वे कर रहे हैं वे कर सकते हैं, वह दूसरे वर्णों से

नहीं हो सकता। भारतवर्ष की यावत् उन्नतियों के अगुआ अब भी ब्राह्मण हैं। अँगरेजी की उच्च शिक्षा ब्राह्मणों में अधिक है।"

"निस्संदेह यथार्थ है परंतु तब करना क्या चाहिए? क्या ज्योतिष पर गुजारा किया जाय? इससे भी तो पेट भरना कठिन है। जब फल ही नहीं मिलते तब लोग देने भी क्यों लगे? और झूठी बातें बनाना अच्छा नहीं!"

"हाँ मैं भी मानता हूँ। वास्तव में यदि फलित ज्योतिष को ठीक ढंग पर न लाया जायगा तो किसी न किसी दिन यह शास्त्र भी हमारे हाथ से गया समझो। लोगों की श्रद्धा उठती जाती है और जिन्होंने अँगरेजी की थोड़ी सी ए, बी, सी, डी, पढ़ ली है वे इसका मर्म न समझकर इसे वाहियात असंभव बतलाकर पूर्वजों की निंदा करते हैं, ब्राह्मणों को ठग बतलाते हैं। परंतु क्या इसमें दोष शास्त्र का है? क्या शास्त्र ही मिथ्या है? अथवा उसका संस्कार दूषित हो गया है? अथवा पढ़नेवालों की ही अयोग्यता है? मेरी समझ में शास्त्र का दोष नहीं क्योंकि वह सत्य है। निर्विवाद सत्य है। हाँ! पढ़नेवाले अवश्य अपराधी हैं। वे पढ़े बिना ही अथवा ज्योतिष का ककहरा सीखकर ही झूठ मूठ मीन, मेष, वृष अपनी अँगुलियों पर गिनकर भविष्यद्वक्ता बन बैठते हैं। उनके स्वार्थ से हिंदुओं के सब धर्मकार्य धूल में मिले जाते हैं।"

"परंतु क्या फलित ज्योतिष के फल न मिलने के अपराधी वे ही लोग हैं?"

'नहीं! शास्त्र के संस्कार भी दूषित हो गए हैं। अहा! अपने पूर्वजों की प्रशंसा किए बिना मैं आगे नहीं बढ़ सकता। जो काम लाखों रुपया खर्च करके, हजारों की दूरबीनों द्वारा आज दिन विद्वान् युरोपियन करते हैं वह उन्होंने आज से हजारों वर्ष पहले नरसल और मिट्टी से सिद्ध कर लिया था। आज भी एक अच्छा ज्योतिषी केवल नरसल की नलिका को मिट्टी में गाड़कर ग्रहों का वेध कर सकता है। यदि उसके पोथी पत्रे छीन लिए जायँ तो जनशून्य जंगल में बैठे बैठे वह केवल इन्हीं की मदद से आज बतला सकता है कि तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण क्या हैं? तारीख क्या है?''

''अच्छा! यह तो आपने गणित के गुण गाए। परंतु फलित में दोष आने के कारण?''

''गणित के दोष से ही फलित दूषित हो गया है। बात यह है कि भास्कराचार्य को ग्रहों का वेध कर सूर्यसिद्धांत बनाए लगभग छः हजार वर्ष हो गए। नक्षत्र स्थिर होने पर भी थोड़े थोड़े अपने अपने स्थानों से हटते हैं। उन्होंने इस हटाहटी का निश्चय करके लिख दिया है कि इतने वर्षों में इतना अंतर निकाल देना चाहिए। ग्रहलाघवकार ने जब ग्रहों के उदयास्त में उनकी गति में अंतर देखा तब उसने उसी आधार पर गणित करके, वेध कर नहीं, वह अंतर निकाल दिया। इस बात को भी तीन हजार वर्ष हो गए। बस पंचांगों में ग्रहों का उदयास्त न मिलने का यही कारण है। इसी

कारण ग्रहण का समय नहीं मिलता, ग्रहों के उदयास्त नहीं मिलते, ऋतु में अंतर रहता है। ऐसे अंतर की भूल से मुहूर्त ठीक नहीं दिए जाते और जन्म का समय ठीक न होने से जन्मपत्र के, वर्ष के फल नहीं मिलते।"

"तब इसके उपाय?"

"उपाय दो हैं। एक विलायत के पंचांगों से अपने पंचांगों का मिलान कर अंतर निकाल लेना। काशी के और दक्षिण के ज्योतिषी "नाटिकेल् अलमानक" की सहायता से पंचांग बनाते हैं। उनका गणित मिलता जुलता है परंतु जैसा मेल ग्रहों का प्रत्यक्ष वेध करने से हो सकता है वैसा नहीं। इस-लिये आवश्यकता इस बात की है कि उज्जयनी, जयपुर अथवा काशी की वेधशाला में प्रसिद्ध प्रसिद्ध ज्योतिषी इकट्ठे होकर दूर-बीनों के सहारे ग्रहों का वेध करें और तब नया करण ग्रंथ तैयार किया जाय। एक बार बंबई में समस्त ज्योतिषियों ने इकट्ठे होकर विचार भी किया था परंतु उत्साहहीनता से, धनाभाव से और आपस की फूट से "टाँय टाँय फिस" हो गई। अब भी इस बात का जितना ही शीघ्र उद्योग किया जाय उतना लाभ है। पंचांगों की अशुद्धि से हमारी बड़ी भारी धर्महानि है और फलित शास्त्र ही झूठा पड़ा जा रहा है सो घलुए में!"

"परंतु मेरे लिये आपने क्या उपाय सोचा है?"

"आपके लिये दो उपाय हैं और वे दोनों साथ साथ संपादन हो सकते हैं। सबसे प्रथम तो चिकित्सा। हमारे

आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सा करने में प्रजा का जितना लाभ है उतना किसी और तरह से नहीं। इसकी दवाइयाँ सस्ती, सुलभ और बच्चे बच्चे की जानी हुई हैं। लाभ चाहे देरी से हो किंतु होता चिरस्थायी है। परमेश्वर ने यहाँ के निवासियों की जैसी प्रकृति बनाई है उसी के अनुसार इस देश में औषधियाँ भी उत्पन्न कर दी हैं। डाक्टरी इलाज का फायदा चाहे मिनटों ही में क्यों न दिखलाई दे जाय परंतु उससे सदा के लिये रोग का विनाश नहीं होता और देशी दवाइयाँ बीमारी को जड़ से उखाड़ डालती हैं। सैकड़ों बार के अनुभव से यह साबित हो गया है कि जहाँ असमर्थ होकर, हताश होकर, बड़े बड़े डाक्टर हाथ खैंच लेते हैं, जहाँ हजारों रुपया इसलिये भाड़ में जा चुकता है वहाँ टकों की देशी दवा से लाभ होता है। फिर डाक्टरों की फीस और दवा की कीमत का खर्च भी तो बहुत भारी है। इधर हमारे राजा महाराजा, धनवान्, देशहितैषी आयुर्वेद के लिये एक पाई खर्च नहीं करते और उधर हर तरह से डाक्टरी को मदद मिल रही है। जिसकी सहायक सरकार उसका कहना ही क्या? नहीं तो देशी इलाज के आगे अब तक उसका पैर ही न जमने पाता।"

"हाँ! राजा महाराजा और देशहितैषियों की उदासीनता है सही परंतु विशेष दोष वैद्यों का है। न वे विद्या पढ़ते हैं और न इलाज करना जानते हैं। बस अटरम सटरम दवा देकर टका कमाने से काम। रोगी जीये चाहे मरे। बस

अपना उल्लू सीधा करने से मतलब! इसी का परिणाम है कि वैद्यों का इलाज बंद करने के लिये कानून बनने की नौबत आ रही है और जो अब भी हम न चेतें तो इस शास्त्र का भी लोप ही समझ लो।"

"बेशक! वैद्यों में योग्यता का अभाव इसका प्रबल कारण है। सचमुच ही लोग लातें मार मारकर उसे डुबो रहे हैं परंतु और भी दो बातों की त्रुटियाँ हैं। एक हमारे शास्त्रों में चीर फाड़ का विस्तार नहीं है। सुश्रुत में है परंतु समय के अनुसार युरोपियन विद्वानों ने इस कार्य में जो असाधारण उन्नति की है उसके लाभ से हमें वंचित न रहना चाहिए। आयुर्वेद आप का पढ़ा हुआ है, आप इसमें सिद्धहस्त हैं, अनुभवी हैं और यशस्वी हैं, रोगी को आपके दर्शन होते ही आधा आराम हो जाता है। इस यात्रा में मुझे कई बार इसका अनुभव हो गया। फिर आपकी दवा भी असाधारण है। अस्पताल में नौकरी करके आप चीर फाड़ का भी अनुभव प्राप्त कर चुके हैं। इधर संस्कृत ग्रंथों का मेरे यहाँ टोटा नहीं और उधर डाक्टरी की बढ़िया से बढ़िया पुस्तकें मराठी और गुजराती में भाषांतरित हो चुकी हैं। जहाँ कहीं अँगरेजी की मदद चाहिए वहाँ मैं तैयार हूँ। बस इसलिये यह काम सिद्ध समझिए।"

"अच्छा! दूसरी त्रुटि से आपका मतलब शायद औषधियाँ अच्छी न मिलने से है! बेशक दवाइयों का बड़ा अँधाधुंध है। भील पंसारी से और पंसारी वैद्य से कह दे सो हो दवा। वह

दवा चाहे संजीवनी की जगह हलाहल ही क्यों न हो। न दवा को वैद्य पहचानते हैं और न पंसारी! और दवा लानेवाले निरे गँवार, जंगली। फिर पंसारी के यहाँ की दवा कभी सड़ती नहीं, बिगड़ती नहीं। चाहे कीड़े पड़कर वह दवा विष ही क्यों न हो जाय परंतु जब तक थैली खाली न हो जाय, नई मँगाने का काम क्या?"

"इसका उपाय मैंने यह सोचा है कि जो औषधियाँ बाजार में अच्छी मिलती हैं उन्हें हिसाबर से थोकबंद मँगवा लेना, जो आबू हरिद्वार और बदरीनारायण की ओर मिलनेवाली हैं उन्हें वहाँ से इकट्ठी इकट्ठी मँगवाना और जो दुर्मिल हैं उनके बीजों का पता लगा लगाकर अपने बगीचे में बो देना। इसके लिये जितनी आवश्यकता होगी उतनी जमीन निकाल दी जायगी।"

"और रुपया? पहला सवाल रुपए का ही है।"

"महाराज, यह बड़ा पुण्य कार्य है। इसमें गरीबों को अन्न वस्त्र भी मिलेगा। औषधालय में आनेवाले को दवा मुफ्त। किसी अमीर के घर जाकर आप इलाज करें अथवा वह मदद के नाम से रुपया दे तो लेने में कुछ हानि नहीं और जब इसका यश फैल जायगा तो बिना माँगी मदद मिलने लगेगी। काम ऐसा होना चाहिए जो दुनिया के लिये नमूना बन जाय। हमारे काम की कोई नकल करे तो खुशी से। जो सीखना चाहे उसे सिखाने को तैयार।"

"हाँ हाँ! यह ठीक! परंतु रुपए का सवाल बड़ा टेढ़ा है। सर्वारम्भास्तंदुलप्रस्थमूला:।"

"पंडित जी, रुपयों की आपने अच्छी चिंता की! इसके लिये ठाकुर जी मदद देंगे। अभी काम आरंभ करने के लिये हजार दो हजार बहुत हैं। बस जितना चाहिए कांतानाथ से ले लीजिए। मैंने उससे कह दिया है। यदि सुकार्य में लगाते दरिद्र आ जावे तो कल का आता आज ही सही! रुपया हाथ का मैल है और धर्म में लगाने से बढ़ता है, घटता नहीं।"

"यह आपकी उदारता है, परोपकार है और मुझ अकिंचन पर दया है। परंतु हाँ! दूसरा उपाय? प्रथम तो उन साधु बालक बालिका को पढ़ाना। क्यों यही ना?"

"हाँ! यह तो परोपकार के लिये है परंतु मेरी झूठी प्रशंसा करके काँटों में न घसीटो। प्रशंसा आदमी के लिये जहर है। वह जीते ही मार डालती है। दूसरा काम ब्राह्मणों का मुख्य कर्तव्य शिक्षा देना, उपदेश देना है। नियत समय पर भगवान् के मंदिर में लोगों को धर्म का उपदेश देना, और जो विद्यार्थी आपसे जिस शास्त्र का अध्ययन करने आवे उसे जी खोलकर पढ़ाना। विद्यादान और औषधिदान का बड़ा पुण्य है। साथ ही संस्कृत ग्रंथों का भाषांतर करना भी।"

"वास्तव में आपने उपाय अच्छे बतलाए। यथाशक्ति थोड़ा और बहुत सबका संपादन करूँगा और जब हर बात में सहायता देने के लिये आप जैसे महात्मा तैयार हैं फिर

सफलता में संदेह भी नहीं किंतु महाराज, प्राचीन संस्कृत ग्रंथ मिलते ही कहाँ हैं? दुष्टों ने उन्हें जला जलाकर भस्मसात् कर डाला। सच पूछो तो जितनी हानि पुस्तक जला देने से हुई, हमारी क्या दुनिया की हुई, वह कभी मिटने की नहीं। रुपए इकट्ठे हो सकते हैं परंतु पुस्तकें नहीं।"

"हाँ! (रोकर) हाय! वास्तव में बड़ा अनर्थ हो गया। परंतु जो बात निरुपाय है उसका दुःख ही क्या? अब भी जितने ग्रंथ मिल सकते हैं उनका उद्धार करने से आँसू पुछ सकते हैं। परंतु महाराज अंत में मैं फिर कहूँगा कि जिनके लिये विद्या से जीविका चलाना कठिन है वे व्यापार करके, कारीगरी सीखकर और नौकरी करके अपना पेट पाल लें। ब्राह्मण होकर जूते बनावें और शराब की दूकानें खोलें, ऐसी बातें अवश्य निंदनीय हैं किंतु जो लोग अपात्रों से, कुपात्रों से पैसा माँगकर ब्राह्मणत्व का अनादर करवाते हैं उनसे मैं संध्यावंदनादि में निपुण पाँच रुपए की सेपागरी, चपरासगरी और दरबानी करनेवाले को श्रेष्ठ समझता हूँ। मेरी समझ में देशोपकार की लंबी लंबी डींगें हाँकनेवाले भ्रष्ट ब्राह्मणों से वे हजार दर्जे अच्छे हैं। संतोष मात्र चाहिए क्योंकि 'असंतुष्टा द्विजा नष्टाः'।"

बस लेखक की कल्पना ने इस उद्योग की सफलता को सीमा तक पहुँचा दिया। अब कार्य में प्रवृत्त होना पाठकों का काम है।

प्रकरण—६०

घर चौपट हो गया

"बुढ़िया ने पीठ फेरी और चरखे की हो गई ढेरी।" वास्तव में भगवानदास का घर चौपट हो गया। बूढ़ा गँवार था, पढ़ा लिखा बिलकुल नहीं और आजकल की "उन्नति" की पुकार उसके कानों तक भी नहीं पहुँची थी, परंतु उसने अपनी छोटी सी गृहस्थी में, अपनी साधारण हैसियत में और अपने गरीब घर में, दिखला दिया था कि गृहराज्य कैसा होता है। जो घर का प्रबंध कर सकता है, जिसकी आज्ञा का पालन बेटे बेटी करते हैं और जो अपने घर की उन्नति कर सकता है वही देश का प्रबंध भी कर सकता है। प्रबंधकर्ता में पहली योग्यता यही होनी चाहिए। पोथे रट रटकर माथा खाली करने की जितनी आवश्यकता नहीं उतनी "इंत-जामी लियाकत" चाहिए। लोग कहते हैं कि "संयुक्त कुटुंब" की प्रणाली से देश चौपट हो रहा है, कोई भी उन्नति नहीं कर सकता, किंतु उसकी बूढ़ी बुद्धि ने साबित कर दिखाया कि संयुक्त कुटुंब गृहराज्य है, राज्य-प्रबंध का नमूना है। यदि देश में ऐसे कुटुंबों की अधिक संख्या हो तो स्वभाव से ही एकता बढ़ जाय, मुकदमेबाजी आधी रह जाय और यही देहाती पंचायत का मूल सूत्र है। शरीर के जितने कार्य हैं उन्हें न

अकेला माथा कर सकता है और न दो हाथ। जब दशों इंद्रियां मन की इच्छा के अनुसार मिल जुलकर अपना अपना काम करती हैं तब ही शरीर चलता है। "याज्ञवल्क्य स्मृति" में देशप्रबंध की व्यवस्था कुलपति, कुलपतियों पर ग्रामपति और फिर बढ़ते बढ़ते राज्यपति, राजा, इस तरह की है। "जिन तें सँभल सकत नहिं तन की धोती ढीली ढाली, देश-प्रबंध करेंगे यह कैसी है खाम खियाली।" किसी ने यह लोकोक्ति खूब फबती कह डाली है।

अस्तु! भगवानदास के गृहराज्य का यह पहला दृश्य है किंतु दूसरे "सीन" ने बिलकुल तख्ता उलट दिया। बूढ़े के जाते ही पहले सीन पर परदा पड़ गया। उसके मित्र ने जहां तक उससे बन सका, तन मन और धन से सँभाला परंतु उसकी अधिक दिन दाल न गलने पाई। जो कार्य कर्तव्य-बंधन से बाँधकर नहीं किया जाता है उसकी चेपा चापी बहुत समय तक नहीं चल सकती। "काठ की हँडिया बार बार नहीं चढ़ती है।" बूढ़े के जाते ही शृंखला टूट गई, दबाव जाता रहा, कर्तव्य का चूर मूर हो गया और कलह का, स्वार्थ का, मनमुटाव का और ईर्ष्या का सीन खड़ा हो गया। मृदु, मधुर और मंद प्रेम से यह अत्याचार नहीं देखा गया इसलिये वह भी अपना बधना बोरिया लेकर चलता बना। अब भाई भाई में नहीं बनती है, लुगाइयों लुगाइयों में गाली गलौज होती है, खसम जोरू में मार पीट होती है और

एक दूसरे को देखकर आँखों में से शत्रुता की चिनगारियाँ फेंकने लगता है। बैल भूख के मारे कल मरते आज ही क्यों न मर जायँ उन्हें कोई पानी पिलानेवाला नहीं, जंगल से घास काटकर लानेवाला नहीं। खेती सूखती है तो क्या पर्वाह ? चरस चलाकर सोचने का परिश्रम हमसे नहीं होता है। क्या हम किसी के गुलाम हैं जो बारिश में, धूप में और जाड़े में खेती की रखवाली के लिये जंगल में रहें ? और बघेरा खा जाय तो ? नहीं नहीं ! हमारे फूल से बच्चे बछड़ों को चराने नहीं जायँगे। लगान का तकाजा है तो जाने सेवा ! चाचा जी उसे मालिक बना गए हैं। कोई छाती कूटे तो भले ही कूटे। आज बस हलुवा पूरी उड़ेगी। बस इस तरह का गदर मच गया। बाहर के चोर नहीं किंतु घर की घर में चोरियाँ होने लगीं। कोई गल्ला बेचकर रुपया हजम कर जाता है तो किसी ने बैल ही बेचकर कीमत अंटी में दबाई है। खेती सूख गई। बीज तक वसूल होने का ठिकाना नहीं। लगान की किस्त चढ़े अर्सा हो गया। कुर्की की नौबत आ पहुँची। दो चार बैल मर गए। एक भैंस ऐसी मरी जो डेढ़ सौ में भी सस्ती थी। कई एक गाएँ ठंठ हो गईं। पूँजी पसारा बिगड़ गया। एक चूल्हे के सात चूल्हे हो गए। बेटे अलग, पोते अलग और जो इकट्ठे हैं उनके मन अलग, स्वार्थ अलग। और इसलिये "जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना।" का फोटो सामने पुकार पुकार कहने

लगा कि कलह का, कर्तव्यशून्यता का और बड़े बूढ़ों के अभाव का यही नमूना है। जो काम बूढ़े ने वर्षों के परिश्रम से, अनुभव से तैयार किया था वह महीनों में, घंटों में नष्ट हो गया। वर्षों की मिहनत से पाला पोसा फूलदार, फलदार वृक्ष मूर्खता की आँधी ने जड़ से उखाड़कर फेंक दिया।

इस फोटो से पाठक समझ सकते हैं कि बूढ़े, बुढ़िया ने जब वापिस आकर घर में पैर रखा तब धौले दुपहर के भव्य प्रकाश के बदले भर भादों की ताराशून्य घोर अँधियारी रात थी। सबने सब ही की आ आकर बाप के आगे चुगलियाँ खाईं। सब ही अपने अपने मन से निर्दोष हैं और उनके सिवाय दूसरा दोषी। सब से अधिक दोष सेवा पर, उसकी बहू पर मढ़ा गया; किंतु ऐसे झूठे अपराधों के लिये अपनी सफाई दिखलाकर वे कसम खाने तक को तैयार हैं, गंगा उठाने में सन्नद्ध हैं। इन दोनों की गवाही भगवानदास के अंतरंग मित्र ने भी दी। उसने आदि से अंत तक एक एक का पृथक् पृथक् इतिहास सुनाकर स्पष्ट कह दिया कि इन दोनों का कुसूर बिलकुल नहीं। इन दोनों ने जिस तरह विपत् झेली है परमेश्वर ही जानता है। भूखों मर मरकर रात काटी है। इनके पास दाना चबाने के लिये भी कुछ नहीं रहा। इतना कहकर उसने सलाह दी कि—"तुम अपने सामने सब के हिस्से बाँट दो। नहीं तो इनमें सदा ही जूता चलता रहेगा। ये अदालत तक पहुँचकर, अमले

के, वकीलों के घर भरेंगे और चार ही दिन में देख लेना कि जिस घर का आतंक आज दिन बस्ती भर मानती है उसी के आदमी दाने दाने को तरसेंगे, औरों की ढोरें चराते फिरेंगे, हल जोतते फिरेंगे।"

बूढ़े की इच्छा नहीं थी कि उसके सामने सब बेटे पोते अपने जोरू बच्चों को लेकर अलग हो जायँ क्योंकि वह जानता था कि जिस घर की साख आज लाख की है वह खाक की हो जायगी। तिनके तिनके इकट्ठे करके रस्सी बनाने पर मतवाला हाथी भी बँध सकता है किंतु वे ही तिनके जुदे पड़ने पर एक चिंउटी को भी नहीं बाँध सकते। इस कारण उसे अपने मित्र की सलाह पसंद न आई। वह यात्रा के परि-श्रम से, भूख प्यास सहकर यद्यपि थक गया था, चाहे उसे अब अधिक जीने की आशा नहीं थी और वह इस उमर को पहुँचकर अब घर की ओर से, दुनियादारी से उदासीन भी हो गया था और अब वह "सब तज और हर भज" की ओर अपना मन लगाए हुए था किंतु बूढ़ी हड्डियों में फिर जवानी का जोश दिखलाकर जी तोड़ परिश्रम से वह सब ठिकाने ले आया। लड़कों को दुनिया की नीच ऊँच दिखलाकर पंडित जी और गौड़बोले ने उन लोगों को बहुत समझाया और तह-सीलदार ने भी धमका धमकाकर फिर वैसा ही ढंग डालने में पूरी सहायता दी। यों काम अवश्य चल गया परंतु चला चेपा चापी ही। जिस भगवानदास के नख में भी कभी रोग

नहीं था, जो नहीं जानता कि बुखार किसे कहते हैं वह इस मेह-नत से थककर बीमार रहने लगा। इसकी बीमारी बढ़ते ही फिर वही गदर। अब इसने समझ लिया कि मित्र की सलाह के अनुसार इन लोगों के हिस्से किए बिना मेरी आँख के सामने ही ये लोग "जूतम फाग" खेलेंगे। इसलिये उसने सबको इकट्ठा करके जो कुछ माल ताल जमीन जायदाद रुपया पैसा बचा बचाया था वह पाई पाई बराबर बाँटकर झगड़ा मेट दिया।

यों घर के धंधे से निपटकर वह यद्यपि उनसे उदासीन हो गया किंतु उन्होंने भी अब इसको निरर्थक, रद्दी समझ लिया। "बूढ़ा मर जाय तो अच्छा! अब यह काँटा ही है। इसके खर्च का वृथा ही बोझा है।" वे खुला खुली कहने लगे। बूढ़े बुढ़िया को यदि ज्वर पीड़ा से कोई करा-हते देखता है तो उसकी ओर से आँख बचाकर चला जाता है। सवेरे किसी ने रूखी सूखी रोटियाँ पहुँचा दीं तो पहुँचा दीं और भूल गए तो भूल गए। किसी का कर्ज थोड़े ही चुकाना है? अब उसके पास फटे कपड़ों और टूटी चारपाई के सिवाय कुछ नहीं है। एक लोटा केवल और है जिसमें सत्रह पैवंद लगे हैं। परंतु उसे इस बात का रंज नहीं है। माँ बाप यदि बेटे बेटी पर बहुत से बहुत नाराज हो जायँ तो इतनी गाली दे सकते हैं कि जैसे तुम हमें बुढ़ापे में सताते हो वैसे ही तुम्हारे बेटे पोते तुमको सतावें। किंतु इस गाली में भी आशीर्वाद है। वह "जाही विधि राखै राम, ताही विधि

रहिए।" के अटल सिद्धांत को दृढ़ता से पकड़े हुए है और अपनी हालत में मस्त रहकर "राम राम" जपते हुए दिन रात निकाल देता है।

यों सज्जनों के सत्संग से बूढ़े बुढ़िया को हर्ष शोक नहीं है किंतु कष्ट देख देखकर उसके अंतरंग मित्र का जी जला करता है। इतने दिनों के अनुभव से उसने ठहरा लिया है कि "यह राई रत्ती दे डालने का नतीजा है। यदि भगवान् थोड़ा बहुत अपने पास रख लेता तो उसके लालच से उसकी वे खातिरें होतीं जिनका नाम!" बस इस विचार से वह एक दिन एक थैली लेकर आया। उसे सबके सामने बजा-कर, खोलकर दिखाने के बाद भगवानदास के कान में कुछ कहकर उसने उसके नाम की चपड़ी की मुहर उस पर लगा दी और एक भंडरिया में उसे रखकर ताली बूढ़े की कमर में बाँध दी। अब लड़कों ने बहुतेरी विनती की परंतु इस रकम का हिस्सा न किया गया। "जो हमारी सेवा करेगा वह पावेगा। और को एक कौड़ी नहीं।" कहकर उसने कड़ा हुक्म दे दिया। बस उसी समय से उसकी खातिरें होने लगीं। एक के यहाँ से खीर आती है दूसरा नया कपड़ा बनवा देता है और तीसरा आधी रात तक चरण चापता है। कोई पंखा झलता है तो कोई मक्खियाँ उड़ाता है। माँ बाप की सेवा करने में एक दूसरे की बदाबदी, होड़ाहोड़ी होने लगी और बूढ़े बुढ़िया को हथेली पर थुका थुकाकर उनकी सेवा होने लगी।

यह सब कुछ हुआ और अब वृद्ध दंपती को अपनी संतान के लिये कोई विशेष शिकायत भी न रही परंतु जब अमर कहलाने पर भी देवताओं की उमर की अवधि है, जब जिसका नाम उसका नाश अवश्यंभावी है और जब ये दोनों जीवन की सीमा तक पहुँच चुके हैं तब यदि भगवानदास का काल आ जावे तो क्या आश्चर्य? वह मर गया और बिना किसी बीमारी विशेष के साधारण ज्वर आकर बात करते करते, "राम राम" की रट लगाते लगाते, मृत्यु की असह्य वेदना के बदले हँसते हँसते मर गया, और ऐसी मौत कि जिसने खबर पाई उसके मुँह से यही निकला कि "ऐसी मौत भगवान् सबको दे। जिसे जन्म भर किसी से दीनता न करनी पड़े और जो ऐसे अनायास, बिना कष्ट पाए मर जाय, उसका जीना और मरना दोनों सार्थक हैं। उसे अवश्य स्वर्ग मिलेगा। पुण्यवानों की यही निशानी है।" खैर बूढ़ा तो मरा सो मरा किंतु बुढ़िया की अजब हालत हुई। वह सत्तर वर्ष की डोकरी होने पर हट्टी कट्टी थी। उसे किसी तरह की बीमारी नहीं थी। परंतु पति परमात्मा का परलोकवास होते ही उसने भी सहगमन किया। पति के स्वर्गवास होने की भनक कान में पड़ते ही "अब मैं जीकर क्या करूँगी? जहाँ वह तहाँ मैं।" कहकर "राम राम" जपते जपते उसने भी शरीर छोड़ दिया। केवल पति-सेवा के सिवाय उसे कुछ मतलब नहीं था। वह विशेष बात भी किसी से नहीं करती थी बल्कि लोग कहा करते थे

कि उसकी समझ मोटी है परंतु आज उसने दिखला दिया कि पढ़ी लिखी औरतों से वह हजार दर्जे अच्छी निकली। दोनों की वैकुंठियाँ साथ निकलीं, दोनों एक ही चिता में जलाए गए और अपना कर्तव्य पालन करते हुए, दुनिया का यश लूटकर परमेश्वर की भक्ति करते हुए, सीधे स्वर्ग को सिधार गए। विद्या चाहे हो चाहे न हो। वह विद्या ही किस काम की जिससे परलोक न सुधरे परंतु अपढ़ होकर भी इन्होंने दोनों लोक सुधार लिए। वास्तव में ऐसे ही लोगों का जन्म सार्थक है। धन्य भगवानदास! धन्य साध्वी! तुम दोनों को धन्य है! भारत में ऐसे ही सज्जनों की आवश्यकता है। पातिव्रत की पराकाष्ठा है। सरकारी कानून भी परमेश्वर के कानून के आगे कुछ नहीं।

खैर! दोनों की मृत्यु के बाद उनकी तेरही हो जाने पर जब इनके बेटों ने थैली सँभाली तब रुपए की आशा में पैसे पाए। वे सब बाप के मित्र से लड़े झगड़े भी कम नहीं, यहाँ तक कि उस पर मुकद्दमा चलाने को तैयार हो गए किंतु जब भगवानदास का तहरीरी सबूत उसके पास था और जब इसका असली भेद हाकिमों को मालूम था तब उन लोगों की कुछ चली चलाई नहीं। हाँ! जरा जरा सी बात पर वे लोग आपस में लड़ लड़कर फौजदारी करते और मुकद्दमे लड़ाते लड़ाते कट मरे। उनका पूँजी पसारा सब नष्ट हो गया और सचमुच उनके लिये वही अवसर आ गया जिसका बाप

के मित्र को पहले से भय था। अब वे औरों के यहाँ मज-दूरी कर करके अपने पेट भरते हैं, अपने किए पर पछताते हैं, माँ बाप को याद करके रोते हैं। इस विपत्ति के समय यदि कुछ सहारा है तो यही कि पंडितजी ने उन्हें बुला बुलाकर किसी न किसी काम में लगा दिया है। यों अंत में वे लोग अपने दुःख के दिन सुख से बिताने लगे हैं।

प्रकरण—६१

मठाधीश साधु

पाठक यह न समझ लें कि पंडित प्रियानाथजी घर आकर उन साधु बालकों को भूल गए। वह भूलनेवाले मनुष्य नहीं वरन् यों कहना चाहिए कि वे जान की जोखों उठाकर अपनी प्रतिज्ञा पालन करनेवाले थे। जिस काम में उन्होंने हाथ डाला उसे पार तक पहुँचा दिया। ऐसी प्रतिज्ञा ही क्यों करनी जिसका निर्वाह न हो सके ? और जब करनी तब पार उतारनी, यह उनका अटल सिद्धांत था। अस्तु ! जिस समय वे गांव में पहुँचे उसी घड़ी उन बालक बालिका के लिये पहाड़ी टीलेवाली गुफा उन्होंने साफ करवाई, धूनी का, सीतल-पट्टी का, कंबलों का और जल का प्रबंध किया और जब उन दोनों की भिक्षा हो गई तब आप अन्न जल लिया। अब जो कुछ इनके घर में बनता है उसमें इन दोनों के योग्य सिद्धान्न इनकी कुटी पर पहुँचा दिया जाता है। पंडित जी और गौड़-बोले पारी पारी से उनको जाकर नित्य सँभाल आते हैं। यों ये कभी कभी गाँव में भी आते जाते हैं परंतु नित्य नहीं, महीना बीस दिन में। पहले पहले लोग उनकी कुटी पर जा जाकर अपना अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिये प्रार्थना भी करते थे। कुसंग के लिये ललचाकर फँसानेवाले भी गए

परंतु न तो इन्होंने किसी से आँख उठाकर वार्तालाप किया और न पंडितजी ने इनके पास भीड़ इकट्ठी होने दी। यों धीरे धीरे अपना लाभ न होता देखकर लोग लुगाइयों ने अपने आप इनके पास जाना बंद कर दिया। अब शरीर के खटके से निपटकर स्नान करने के अनंतर आठ पहर में एक बार जो कुछ भिक्षा आवे उसे गड्डमड्ड करके खा लेने के सिवाय इन्हें कुछ काम नहीं। गुरू की बताई हुई काम-विकारों को शमन करनेवाली बूटी इस पहाड़ी पर भी बहुतायत से है। उसे ला लाकर यह अवश्य खाते हैं। और यों केवल चार घंटे की निद्रा के सिवाय इनका दिन रात भजन में बीतता है। बच-पन से इनके गुरू ने "राम राम" का जो जप बतला दिया है उसे ही वे करते हैं और पद्मासन जमाकर गर्दन झुकाए, अपनी नासिका से चिपटती हुई पृथ्वी पर शुद्ध स्थान में लिखे हुए प्रणव पर हृदय की दृष्टि, चर्मचक्षु नहीं क्योंकि ध्यान के समय ये मुँदी रहती हैं, जमाकर ध्यानावस्थित रहते हैं। गुरू जी ने एक बात और बतलाई है। वह यह कि ध्यान भग-वान् श्री कृष्णचंद्र की बाललीला की मूर्त्ति का करना। जब, जिस समय तुम्हारा ध्यान और तुम्हारा जप एक हो जायगा तब ही उस मूर्त्ति में से ध्रुव बालक की तरह भगवान् हरि तुमको प्रकट होकर दर्शन देंगे। इसमें उन्हें इतने वर्षों के उद्योग से कहाँ तक सफलता हुई सो इन्होंने किसी को नहीं बतलाया और ऐसे गोपनीय मंत्र अधिकारी बिना किसी

को बतलाने के लिये भी नहीं हैं। हाँ! उन दोनों के मुख कमलों का निरीक्षण कर प्रत्येक विचारवान् सज्जन बतला सकता है कि तप उनके चेहरे पर झलकता है, कार्य की सिद्धि उनकी आँखों के सामने नाच रही है और संयम का कवच संसार के यावत् विकारों से उनकी रक्षा कर रहा है।

ऐसे जितेंद्रिय, दृढ़मना और तपस्वी महात्माओं के लिये पुस्तक रटने की आवश्यकता नहीं। पुस्तक पढ़ना इसमें जान-कारी लाभ करके कार्य का आरंभ करने के लिये है और ये अपने उद्योग में बहुत आगे निकल गए हैं किंतु गुरु-मुख से मंत्रोपदेश ग्रहण करने और इतनी सी क्रिया सीख लेने के सिवाय ये कुछ नहीं जानते हैं। हाँ! ये जितनी इसकी साधना करते जाते हैं उतना ही आनंद बढ़ता जाता है। बस उस आनंद में आनंद बढ़ाने के लिये ही ये पढ़ने लगे हैं। गौड़बोलेजी ने अनध्याय को छोड़कर नित्य इनकी कुटी पर जाना आरंभ कर दिया है। साधारण लिखना पढ़ना सीख लेने के अनंतर उन्होंने पहले "विचार सागर" का मनन कर-वाया है, फिर "भगवद्गीता" का। किंतु इन दोनों का सीखना भी विलक्षण है। मानो ये पहले ही से उसे जानते हैं, पढ़ा हुआ पाठ भूल गए हैं सो पंडित गौड़बोले के पढ़ाने से पुरानी बातों का उन्हें स्मरण हो आता है। जिस विषय पर विचार करने में और विद्यार्थियों को महीनों लग जायँ उसे ये दिनों में अपने मन पर दृढ़ कर लेते हैं। भगवद्गीता के लिये ये

दोनों कहा करते हैं कि संसार में इसके बराबर कोई ग्रंथ नहीं। दुनिया के पर्दे पर ऐसा कोई अब तक पैदा नहीं हुआ जो इसके सिद्धांतों को मिथ्या सिद्ध कर दे। इसमें प्रवृत्ति भी है और निवृत्ति भी। यह गृहस्थों के लिये भी है और संन्यासियों के लिये भी। इसका मनन करनेवाला दुनियादारी में रहकर भी जीवन्मुक्त है। बस कर्तव्य की शिक्षा इसके समान किसी में नहीं। काम, क्रोध, मोह, लोभ और मद मत्सरादि विषों से छुड़ाने के लिये यह रामबाण दवा है। कार्य करके भी न उसकी सिद्धि के लिये राग करना और न उसके प्राप्त न होने पर द्वेष। परमात्मा का स्वरूप इसमें बहुत अच्छी तरह दिखलाया गया है। हिंदूमात्र को इसे हिए का हार बना लेना चाहिए।

बस! इन्होंने भगवद्गीता पढ़ लेने के अनंतर योग ग्रंथों को विचारना आरंभ किया है। योग साधन के लिये केवल वाचनिक शिक्षा किसी काम की नहीं। इसमें साधना अधिक और पढ़ना कम और साधना का अभ्यास अच्छे गुरू के बताए बिना हो नहीं सकता। जो केवल पुस्तकों के भरोसे अथवा ऊटपटाँग गुरुओं से सीखकर प्राणायाम चढ़ाने लगते हैं उनमें भूल से अनेकों को मस्तक-विकार हो जाते देखा है, अनेकों को क्षय हो जाते देखा है और अनेकों का शरीर फूट निकलता है। श्वास को रोकना मतवाले हाथी को बाँधना है। गौड़बोले यद्यपि इस विषय को विद्यार्थियों के चित्त पर ठसाने

की अच्छी योग्यता रखते थे और साधन से भी खाली नहीं थे किंतु उन्हें इस बात का दावा भी नहीं था कि मैं इस विषय में पारंगत हूँ। खैर जितना वह जानते थे उन्होंने इन दोनों को सिखाया। गुरु शिक्षा में गौड़बोले की शिक्षा को संयुक्त कर इन्होंने अभ्यास बढ़ाया और जो बात समझ में न आई उसे किसी महात्मा से सीखने के लिये उठा रखा।

यों इन दोनों का समय अध्ययन, मनन और निदिध्यास-नादि में सदाचार के साथ वर्षों तक व्यतीत होता रहा। किसी प्रकार का विक्षेप नहीं, बिलकुल प्रलोभन नहीं। किंतु इस अवसर में एक घटना ऐसी हो गई जिससे इनके त्याग को कसौटी पर कसने का मौका आया। घटना ऐसी वैसी नहीं, बस "इस पार या उस पार" का मामला था। यदि उसे ग्रहण कर लिया तो संसार त्याग देने पर भी पक्का संसारी बनना पड़ा और छोड़ दिया तो एक सीढ़ी ऊँचे। बात यों हुई कि पंडित प्रियानाथजी ने एक दिन इस तरह प्रस्ताव किया—

"महाराज, आपको अपेक्षा तो नहीं है। जिसने संसार को तिनके के समान छोड़ दिया उसे अपेक्षा ही क्या? और आप अपना कार्य साधन भी कर रहे हैं परंतु इसके साथ यदि आपके हाथ से लोकोपकार भी हो तो कैसा?"

"हैं पिता! हम तुच्छ प्राणियों के हाथ से लोकोपकार? जब हम ही नहीं, जब हम लुहार की धौंकनी की तरह श्वास लेने पर भी मुर्दे हैं तब लोकोपकार कैसा? हाँ इस

मृतक शरीर से यदि चील्ह कौवे अपना पेट भर लें तो कुछ काम भी सही !"

"नहीं महाराज, आप जैसे तपस्वी यदि दुनिया का उपकार करना चाहें तो बहुत कुछ कर सकते हैं और यह शरीर परोपकार के लिये ही पैदा हुआ है। काम यह है कि एक जगह मठाधीश की गद्दी खाली हुई है। उनके शिष्य तो हैं परंतु इस योग्य नहीं हैं कि अपना कर्त्तव्य पाल सकें। इसलिये कितने ही धार्मिक सज्जनों ने किसी योग्य व्यक्ति को वह गद्दी दिलाने का उद्योग किया है। मेरी समझ में आपसे बढ़कर योग्य नहीं मिल सकता इसलिये इस पद को स्वीकार कर सनातनधर्म की सेवा कीजिए, धार्मिक हिंदुओं का उपकार कीजिए और इस डूबती हुई नौका को पार उतारिए।"

"नहीं पिता! यह काम मुझसे नहीं हो सकता! "दो एक साथ न होवे रे भाया, इंद्रियाँ पोषणी और मोक्ष जाया।" ऐसा प्रस्ताव करके मुझे मत फँसाओ। प्रथम तो मैंने जन्म लेकर अभी तक किया ही कुछ नहीं फिर यदि कुछ बन भी पड़ा हो तो उसे धूल में मत मिलाओ। जो दशा थोड़ों को छोड़कर आजकल के आचार्यों की, मठाधीशों की, स्थिर जीविका पानेवाले अपढ़ पुजारियों की और साधु वेशधारी मनुष्यों की हो रही है वही मेरे लिये तैयार है। संसार-त्यागियों को दुराचार में प्रवृत्त करने के लिये इसको शराब समझो। बस इस काम में पड़कर मैं दीन दुनिया दोनों का न रहूँगा। भाँग,

गाँजा, चरस, चंडू तो उनकी साधारण सेवा है किंतु अब छिप छिपकर बोतलें भी उड़ने लगी हैं। अकेले दुकेले स्त्रियों से बातचीत करना तो उनमें दोष ही नहीं समझा जाता किंतु अब उनमें से अनेकों की व्यभिचार की, रंडीबाजी की भी शिकायत है। वे चोरी में फँसते हैं, डकैतों की मदद देने का उन पर इलजाम लगता है और इनमें से यदि सब ही दोषों से किसी तरह बच जायँ, बचना कठिन तो है परंतु मान लीजिए कि बच भी जायँ तो द्रव्य संग्रह करने का, भोग विलास करने का, आडंबर बढ़ाने का और हुकूमत करने और औरों से पैर पुजवाने का क्या कम अपराध है?"

"वास्तव में आपने जो दोष बतलाए वे यथार्थ हैं। थोड़ों को छोड़कर आजकल के आचार्यों, मठाधीशों और पुजारियों पर इस तरह के इलजाम लगते हैं और उनकी कितनी ही जगह सत्यता प्रमाणित होने से लोगों को कानून बनवाकर देवोत्तर संपत्ति सरकारी निरीक्षण में डालने के लिये आंदोलन करने का हौसला हुआ है। जहाँ इस तरह का दोष उपस्थित हो जाय वहाँ राजा के हस्तक्षेप करने की आवश्यकता को मैं मानता हूँ। परंतु गवर्मेंट विदेशी है। वह हजार मर्मज्ञ होने पर भी हमारे धर्म भावों को नहीं जान सकती इसलिये वह यदि कृपा करके इन बातों में हाथ नहीं डालना चाहती है तो हमारा उपकार ही करती है। परंतु आजकल के नवीन रोशनीवाले इसके पीछे आटा बाँधकर पड़े हैं। वे इस द्रव्य

से देशोपकार का कुछ भी काम करना चाहें, परंतु मेरी सम्मति यह है कि दाता ने जिस काम के लिये जो जायदाद दी है वह उसी काम में लगनी चाहिए। गद्दी पर विद्वान्, धार्मिक, संयमी, जितेंद्रिय और सज्जन, निःस्पृही महात्मा के बैठने से संस्कृत की शिक्षा का प्रसार हो सकता है, शिष्यों को सदु-पदेश मिलने का प्रबंध हो सकता है और यों धर्म-सेवा होने से उद्देश्य की सफलता हो सकती है।"

"जब संसार त्यागकर वैराग ही ले लिया तब उद्देश्य क्या? गेरुआ कपड़े पहनकर, राख रमाकर, गुरू बनकर नाहक भेप को लजाना है! चौथे आश्रम को लातें मार मार-कर नष्ट भ्रष्ट करना है। शास्त्र में संन्यासी के लिये इस तरह रहना कहाँ लिखा है?"

"शास्त्र में यदि न हो तो न सही। संन्यासी का धर्म यही है कि वह वन के कंदमूलों पर अपना गुजारा करे, नित्य तीन घर से अधिक भिक्षा न माँगे, तीन दिन से अधिक एक जगह न ठहरे और इस तरह भिक्षा न ले जिसमें दाता का जी दुखे। जो कुछ मिल जाय उसे जल में धोकर बिना स्वाद एक बार खा ले, दुनिया के रागद्वेष से अलग रहे और तत्त्वों का चिंतवन करता रहे। परंतु महाराज, समय के अनुसार इन मठाधीशों की भी आवश्यकता आ पड़ी। दुनिया का जितना उपकार इनसे हो सकता है उतना गृहस्थों से नहीं। बिचारे गृहस्थों को अपने पेट पालने से फुरसत ही कहाँ है? ऐसे

साधुओं को गोसेवा के लिये सबसे बढ़कर सुविधा है। गाँव में दस घर फिरकर आटा माँग लाए, उससे चार टिक्कड़ बनाकर ठाकुरजी को भोग लगाया और दिन भर गोसेवा, ठाकुर-सेवा और भूले भटके मुसाफिरों के आतिथ्य के सिवाय कुछ काम ही नहीं। रात को भजन करना, लोगों को उपदेश देना और बालकों को पढ़ाना। भारतवर्ष में लाखों गाँव होंगे। ऐसा कोई गाँव ही नहीं जहाँ मंदिर न हो। बस जहाँ मंदिर है वहाँ देव-पूजा के साथ धर्मोपदेश का, धर्मशाला का, पाठशाला का और गोशाला का एक साथ काम निकलता था और खर्च केवल चार रोटी का। उस समय यह उपकार तो केवल छोटे मोटे मंदिरों से, मठों से था किंतु बड़े बड़े मठाधीशों, महंतों और आचार्यों का उपकार बेहद था। उनको भोग-विलास से बिलकुल वैराग्य था। कपड़े के नाम पर दो कोपीन, एक कंबल, बरतन के लिये तुंबी, कठौती और खाने के लिये भगवान् का जो कुछ प्रसाद मिल जाय वही बहुत था। बस सती सेवकों से अथवा जमीन जीविका से जो कुछ इकट्ठा हो जाय वह या तो गौओं की सेवा में, साधु महात्माओं के आतिथ्य में अथवा आए गए के सत्कार के लिये। दिन रात इस बहाने से लोगों को सत्संग मिलता था, उपदेश मिलता था, अध्ययन मिलता था और दवा मिलती थी। जिस समय भारत में इस तरह की व्यवस्था थी उस समय न धर्मसभाओं की आवश्यकता थी और न लेक्चरबाजी की और न धर्म-

शालाएँ बनवानी पड़ती थीं। केवल इन्हीं की बदौलत, केवल गुरुकुलों ही के कारण बिना खर्च के अथवा नाम मात्र का व्यय करके वह काम निकलता था जिसके लिये विश्वविद्यालयों में, कालेजों में, पाठशालाओं, अस्पतालों में आजकल करोड़ों ही खर्च किया जा रहा है। वह शिक्षा असली शिक्षा थी, उसमें लोकव्यवहार के साथ धर्माचार था, उसमें आडंबर का नाम नहीं और यह केवल दिखावटी, धर्महीन और व्यवहारशून्य! महाराज, मैं भी आपको फँसाना नहीं चाहता हूँ। आपको दबाकर मुझे स्वीकार कराना इष्ट नहीं है। जब आप प्रथम से ही दुनियादारी में नहीं पड़े हैं, जब आपने भोग की बिरियाँ योग ग्रहण कर लिया है तब आप भले ही इन झमेलों में न पड़िए। परंतु महात्मा, अब समय वह आ पहुँचा है जिसमें आप जैसे त्यागियों को धर्मप्रचार के लिये, लोकोपकार के लिये त्याग का भी त्याग करना पड़ेगा। यदि आप चाहें तो इस पद को स्वीकार करने पर भी राजा जनक की तरह विरागी बने रह सकते हैं। आप जैसे जितेंद्रियों से, तपस्वियों से और महात्माओं से यह काम जितना हो सकता है उतना दुनियादार स्वार्थियों से नहीं, ढोल के अंदर पोलवाले आडंबरी लेकचरों से नहीं। और इसकी आवश्यकता भी बहुत बढ़कर है।"

"पिता! आपका कथन वास्तव में हृदय में हलचल मचा देनेवाला है। निःसंदेह बड़ा असर करनेवाला है। हाँ!

ऐसा करने की आवश्यकता भी है और कुछ काम भी हो सकता है परंतु (कोई दस मिनट तक आँखें मूँदकर विचार करने के अनंतर) मैं इस काम के योग्य नहीं। मुझसे यह काम न हो सकेगा। पिता! मुझे न फँसाओ।"

"अच्छा! आपकी इच्छा। आपको धन्य है। वास्तव में आप न फँसना। अब मैंने समझ लिया कि आप धन के, अधिकार के और प्रशंसा के लालच में आनेवाले नहीं। आप के पूर्व जन्म का संचय शीघ्र ही आपको पार लगा देगा।"

बस इसका उन्होंने कुछ जवाब न दिया। जितनी देरी तक इन दोनों का संवाद होता रहा साध्वी साधुनी, साधु महाराज की बहन चुपचाप सुनती रहीं। वह अध्ययन के सिवाय कभी कुछ बोलती भी नहीं थीं। अब भी न बोलीं किंतु उनके मुख की मुद्रा से पंडित जी ताड़ गए कि भाई ने जो कुछ कहा है बहन की सम्मति से। इतना होने के अनंतर "नमो नारायण" करके उन दोनों के चरणों को प्रणाम कर पंडित जी घर आ गए। इसके अनंतर क्या हुआ सो लिखने की आवश्यकता नहीं। हाँ दूसरे दिन पंडित जी भिक्षा लेकर जब उनकी कुटी पर गए तब वह जनशून्य थी। पंडित जी के दिए हुए वस्त्रों में से एक लँगोटी, एक धोती और एक तुंबी के सिवाय सब वहीं पड़ा हुआ था। वह वहाँ उन महात्माओं के दर्शन न पाकर रो दिए। कल की बात पर उन्होंने अपने आपे को बहुत धिक्कारा और आज से साधुसेवा

बंद हो जाने पर ऐसे दुःखित हुए जैसे अपने पिता के चिर वियोग पर। अस्तु! उस दिन से पंडित जी का एक बार के सिवाय कभी पता न लगा कि वे कहाँ गए। उस बार भी यह सुना था कि वे दोनों हिमालय की गिरि-कंदरा में तप करने के लिये चले गए। जिस मठ के लिये पंडित जी को ऐसा महंत रखने की आवश्यकता थी उसका क्या हुआ सो भी लिखने की आवश्यकता नहीं। एकाध प्रकरण से काम न चलेगा और पोथी पहले ही पोथा हो गई। हाँ! यदि कोई सुलेखक चाहे तो एक अच्छा स्वतंत्र उपन्यास लिख सकता है। इस पुस्तक से उसे थोड़ा बहुत मसाला भी मिल सकता है।

प्रकरण—६२

गोरक्षा का नमूना

छुट्टी के दिन पूरे होने पर हैं। जब नौकरी करनी ही निश्चित है अथवा यदि इस्तीफा देने की भी इच्छा हो तो क्या हुआ, चाहे जितना ऊँचे से ऊँचा ही पद क्यों न हो, परन्तु अंत में है तो दूसरे की नौकरी। गवर्मेंट की सेवा करने में यद्यपि नौकरों के साथ अच्छा बर्ताव होता है, उनकी समय समय पर उन्नति होती है और बुढ़ापे में पेंशन भी मिल जाती है परन्तु परिणाम में है दासवृत्ति ही! सरकार की क्या, रजवाड़े की क्या, साहूकारों की क्या, चाहे गए बीते की भी नौकरी करो परन्तु "जी हुजूर! हाँ साहब! जी हाँ साहब!" कहकर मालिक की हाँ में हाँ मिलनी ही पड़ेगी। ऐसे ऐसे अनेक कारणों का अनुभव करके और अपने नित्य और नैमित्तिक कार्यों में विघ्न पड़ता देखकर पंडित जी ने कांतानाथ से नौकरी का इस्तीफा दिलाकर घर के काम काज का बिलकुल बोझा उस पर डाल दिया। अब वह "स्याह करे तो स्याह और सफेद करे तो सफेद।" जो कुछ करे उसे अधिकार है। घर धन्धे में, कमाई में और सब ही कामों में नेक सलाह देकर रस्ते पर लगा देना, उसे इधर उधर न भटकने देना और उसे धन्धे के, व्यापार के अच्छे

अच्छे गुर सुझा देना ही उनका काम है, और किसी बात से कुछ मतलब नहीं। कांतानाथ भी ऐसा आदमी नहीं जो "मन मानी घर जानी" करे। वह जो कुछ करता है सब अपने बड़े भैया से पूछकर उनकी आज्ञा के अनुसार। उसके काम काज की समय समय पर जब उनके पास रिपोर्ट पहुँ-चती है तब दो काम पंडित जी अवश्य करते हैं। एक उसके अच्छे कामों की प्रशंसा करके उसका उत्साह बढ़ाना और दूसरे यदि उसके हाथ से कोई चूक हो गई हो तो उस पर उसे धमकाना नहीं, उसे बुरा भला न कहना। यदि वह स्वयं अपनी चूक पर पछतावे और वह पछताता ही है तो "कुछ चिंता नहीं! जो काम करते हैं वे भूलते भी हैं। जो धंधा करता है उसके लिये नुकसान पहले और नफा पीछे।" कहकर वे उसका प्रबोध कर देते हैं। हाँ! समय पाकर उस भूल का कारण बताकर आगे के लिये वे उसे चिता भी दिया करते हैं परन्तु बड़े प्यार के साथ। इनके पिता ने यद्यपि दोनों भाइयों का वैमनस्य न हो इसलिये पहले ही से अच्छा प्रबंध कर दिया था किन्तु जहाँ राम भरत का सा स्वार्थत्याग मूर्तिमान विराजमान है वहां वैसे प्रबन्ध की आव-श्यकता ही क्या? लड़ाई झगड़े वहाँ हुआ करते हैं जहाँ एक के स्वार्थ की दूसरे की गरज से टक्करें होती हैं। परन्तु पंडित जी के घर में दोनों भाइयों का स्वार्थ दूध बूरे की तरह मिलकर एक हो गया। बहुस्नेह के दूध में स्त्रियों की लड़ाई

की यदि खटाई पड़ जाय तो अवश्य दूध बूरा भी अलग हो सकता है परन्तु जहाँ प्रियंवदा और सुखदा सगी माँ-जाई बहनों से भी बढ़कर आपस में प्यार करती हैं वहाँ ऐसी खटाई का काम ही क्या ?

अस्तु ! इन लोगों की अच्छी निभती है । परमेश्वर ऐसी सबकी निभावे । जिस घर में भाई भाई का, पति पत्नी का, देवरानी जेठानी का ऐसा प्यार है वहाँ अवश्य देवता रमण करते हैं । वह स्वर्ग से भी बढ़कर है ।

यों कांतानाथ घर के प्रबंध में, जमींदारी में और लेन देन में मुस्तैद हैं और पंडित प्रियानाथजी की छुट्टी समाप्त होने में केवल दो सप्ताह शेष रह गए । घर में आकर इन्हें कितने ही काम करने थे परंतु यात्रा के कारण न पहले अवकाश मिला और न अब । उस समय जाने की उतावल रही और अब थक जाने से सुस्ताने ही सुस्ताने में दिन निकल गए, यद्यपि घर आकर यह खाली एक दिन भी नहीं रहे । इन्होंने यहाँ आकर क्या किया सो विस्तार से प्रकाशित करने की आवश्कता नहीं क्योंकि गृहस्थ की छोटी मोटी बातें किसी से छिपी नहीं हैं । हाँ ! दो चार जो बड़े बड़े काम थे उनका दिग्दर्शन गत पृष्ठों में कर भी दिया गया है ।

अब अपनी नौकरी पर जा पहुँचने के पहले पंडित जी के लिये केवल तीन काम शेष रह गए हैं । प्रथम प्रियंवदा और सुखदा की सौरी का समान रूप से प्रबंध करना । जब कांता-

नाथ वहाँ विद्यमान हैं तब इस बात की उन्हें चिंता नहीं परंतु स्त्रियाँ यों ही कोमल होती हैं फिर इन दिनों में उनकी बहुत ही नाजुक हालत हो जाती है। जब बिना विशेष कष्ट के बच्चा होने पर नहा धोकर जच्चा उठती है तब उसका दूसरा जन्म माना जाता है। इसलिये अच्छी अनुभवी दाई का तलाश कर देना, उपयुक्त गृहों को पहले से सूतिकागृह के उपयोगी बना देना और इस काम के लिये जिन ओषधियों की, जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है उन्हें पहले से सँभाल लेना। परमेश्वर न करे, कभी वैद्य की आवश्यकता आ पड़े तो इलाज के लिये गौड़बोले जी वहाँ मौजूद ही थे। गौड़बोले की इच्छा थी कि "इन बातों का ज्ञान पहले से करा देने के लिये प्रियंवदा को कोई पुस्तक अवश्य देनी चाहिए जिसे पढ़कर वह तैयार रहे और अपनी देवरानी को भी समझा दे। वह पोथी किसी अनुभवी स्त्री की बनाई हुई हो तो अच्छा।" परंतु हिंदी में बहुत टटोल लगाने पर भी ऐसी पुस्तक का कहीं पता न चला और मराठी, गुजराती वह जानती नहीं इसलिये गौड़बोले को मन मारकर रह जाना पड़ा। हाँ! इतना अवश्य किया गया कि पंडित जी और गौड़बोले ने मिलकर कुछ नोट तैयार किए। उनसे जितना मतलब निकल सका उतना प्रियंवदा ने निकालकर संतोष कर लिया। इस तरह सब कामों की व्यवस्था हो गई और उसके अनुसार कार्य होकर जो परिणाम हुआ वह पाठकों ने गत प्रकरणों में पढ़ ही लिया। हाँ पंडित जी को भी

हिंदी में इस प्रकार की स्त्रियों के उपयोगी पुस्तकें न मिलने से बहुत खेद हुआ और उन्होंने मराठा, गुजराती से भाषांतरित करके हिंदी में इस अभाव की पूर्ति करने का संकल्प भी कर लिया।

पंडित जी को यहाँ रहने के दिनों में जो दूसरा काम करना था उसका संबंध गोरक्षा से था। उन्होंने इस विषय में चौवालीसवें प्रकरण में जो राय देकर छोटे भैया के लिये संकेत किया था उसका हूबहू फोटो उनके सामने खड़ा हो गया। इनके यहाँ गोसेवा दो भागों में बँटी हुई थी। एक घर में और दूसरी बगीचे में। घर में गृहस्थी के उपयोगी जो गौवें रहती थीं उनकी सेवा का भार पहले सुखदा ने ही उठा रक्खा था और अब दोनों मिल गईं। उनका दूध, दही, मठा और मक्खन ठाकुर जी के नैवेद्य में काम आता है। उसमें से छाँछ मुहल्लेवालों को भी बाँटी जाती है। गोबर और गोमूत्र घर को पवित्र करता है। जब उनके यहाँ नित्य ही वैश्वदेवादि यज्ञ होते हैं, और उनके लिये हर बात में गोमाता की आवश्यकता है तब इस बात का तो कहना ही क्या? किन्तु नित्य प्रातःकाल उठकर दोनों बहुएँ लिलाट पर रोली का तिलक लगाए, सौभाग्य चिह्न धारण किए, दोनों मिलकर गंधाक्षत से गोमाता का पूजन करती हैं। रात में उठ उठकर वे इस बात की खबरदारी रखती हैं कि उनके बैठने की जगह गीली न रहने पावे। वे अपने हाथों से उनके सामने चारा डालती हैं और सानी करके उन्हें खिलाती हैं।

दूध दे तो सानी और न दे तो सानी। बारहों महीना सानी मिलती है। वे गाएँ साफ सुथरी नहाई, धोई, ऋतु के अनुसार समय पर छाया में और समय पर खुले में रक्खी जाती हैं। बछड़े बछिया हृष्ट पुष्ट बलिष्ठ मानों हाथी के से बच्चे हैं। यदि वे बाजार में भाग जायँ तो रस्ता बंद कर दें। आधे से अधिक दूध उनका और शेष घर खर्च के लिये होता है।

अपने घर की गौओं की ऐसी सेवा देखकर, उनकी हृष्टता पुष्टता देखकर और उनके दर्शन करके पंडित जी की कली कली खिल उठी। उन्होंने गोमाता को प्रणाम किया, उनकी स्तुति की और जब बगीचे की गौओं के जाकर दर्शन किए तब वे आनन्द में मग्न हो गए। वहाँ मारवाड़ी नसल की कोई पचास गाएँ होंगी। उनके साथ दस पंद्रह लूली, लँगड़ी, बूढ़ी, ठाठ भी थीं किन्तु सबकी सब मोटी ताजी, शरीर पर मैल का नाम नहीं। दिन रात में ज्यार जितनी उनसे खाई जाय खायँ। उनका मन ही वैरी है। बाँटा सबको दिया जाता है। फूस के ही सही, कच्चे घर ही क्यों न हों परन्तु उनके रहने के लिये मकान तीनों ऋतुओं के योग्य हैं। एक ओर घास का गंज लगा हुआ है, कराई के ढेर पड़े हैं तो दूसरी ओर खली और बिनौले से कोठे पर कोठे डट रहे हैं। उनको चराने के काम पर अलग, उन्हें निलहाने, धुलाने और उनके बाँधने की जगह को साफ सुथरी रखने पर अलग नौकर हैं। गौएँ और बछड़े दो चार

घंटे के लिये चरने भी जाते हैं किन्तु गोशाला में उनके लिये कमी नहीं है। उनका घी बेचा जाता है, दूध बेचा जाता है किंतु और से अच्छा होने पर भी बाजार भाव से महँगा नहीं दिया जाता। उनकी दवा दारू के लिये एक बक्स में औषधियाँ भरी हुई हैं। जहाँ जरा सी एक गाय कुछ अन-मनी दिखलाई दी उसके इलाज के लिये हलचल मच जाती है, और इस तरह स्वर्ग की देवी भगवती कामधेनु इस संसार में आकर भी स्वर्ग-सुख प्राप्त कर रही हैं। पंडित जी ने इस प्रबंध को देखकर बहुत प्रशंसा करने के अनंतर एक त्रुटि बत-लाई--"साँड़ अच्छा नहीं है। जब तक नर अच्छा नहीं मिले संतान अच्छी नहीं हो सकती। मैंने तुम्हारे लिये एक अच्छे नर का प्रबंध भी कर दिया है। इस यात्रा में एक जगह एक आँकल कसाइयों को रुपया देकर छुड़ाया है। वह दो चार दिन में आनेवाला है। लो यह लो।" कहकर उन्होंने कांतानाथ को बिलटी दी और तब बोले—

"भैया तुमने यह काम छेड़ा है और इसमें सफलता भी होगी। न हो तो न सही। हमारा कर्तव्य है।"

"भाई साहब, इससे बढ़कर सफलता क्या होगी कि बस्ती भर में आजकल गोसेवा की धूम है। यहाँ गाएँ तो सब गृहस्थी रखते ही हैं। जिनके यहाँ नहीं थीं वे भी मँगवा रहे हैं। आस पास के गाँवों में चार पाँच जगह ऐसी गो-शालाएँ खुल गई हैं। लोग मुझसे आ आकर पूछ जाते हैं

और हमारा बिलकुल अनुकरण करते हैं। भगवान् के अनु-ग्रह से होड़ाहोड़ी का अवसर आ गया है।"

"परंतु एक बात याद रखने की है। यदि इसमें बेपर्वाही करोगे तो पुण्य करते हुए पाप होगा। नरक के भागी होना पड़ेगा।"

"हाँ! मैं समझ गया। मैंने निश्चय कर लिया है कि इस गोशाला के बछड़े या बड़े होने पर बैल ऐसे दुष्टों के हाथ न बेचे जायँ जो उनका अच्छी तरह पालन न करें, उनसे अधिक मेहनत लेकर पेट भर खाने को न दें, अथवा कसाई के हाथ अपने चौपायों को बेच दें। जिस पर मुझे जरा सा भी संदेह होता है उसे चाहे जितना नफा मिले मैं कदापि नहीं देता हूँ। मैं लेनेवालों से प्रतिज्ञापत्र लिखवाकर हो सकता है तो जमानत भी ले लेता हूँ।"

"परंतु और लोग बेचें तो?"

"इसका भी मैं प्रबंध कर रहा हूँ। कोई सभा करके नहीं, किसी से लड़ झगड़कर नहीं, भिन्न धर्मियों को चिढ़ा-कर सताकर नहीं किन्तु जो लोग यहाँ आते हैं वे सब यहाँ की स्थिति देखकर ललचाते हैं और स्वयं अपनी इच्छा से प्रतिज्ञापत्र लिख जाते हैं, यहाँ तक कि कितने ही मुसलमान भाई भी इसको पसंद करने लगे हैं। वे स्वयं प्रतिज्ञाएँ करते हैं, हमारी नकल करते हैं और इस तरह बर्ताव करने को तैयार हैं क्योंकि उन्होंने समझ लिया है कि अगर मुल्क से गाएँ नेस्त

नाबूद हो जायँगी तो दूध घी कहाँ से मिलेगा, खेती कहाँ से करेंगे और गल्ला कहाँ से पावेंगे? बल्कि अब वे यहाँ तक मानने लगे हैं कि हिंदुस्तान में मँहगी और कहत इसी वास्ते पड़ता है।"

"बड़े हर्ष की बात है। भगवान् तुम्हें सुयश दे। हाँ तो गोचारण की भूमि के लिये तो यहाँ कुछ कष्ट है या नहीं?"

"नहीं बिलकुल नहीं। बल्कि राज्य इस काम के लिये बंजर के साथ अच्छी जमीन तक देने को तैयार है। जिस जमीन पर केवल गौओं की नार के लिये ज्वार की सूड की जाती है उस जमीन का लगान आधा लिया जाता है। अपने खर्च के लिये बेच दी जाय तो पूरा।"

"यह और भी तुमने अच्छी खबर सुनाई। बस पर-मेश्वर ने चाहा तो हमारे यहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहे, टीड़ी, चोरभय और राज्यभय, यों छहों ईतियों की शिकायत न होगी। भले ही कोई करके देख ले।"

"बेशक!" कहकर गौओं की पीठ पर हाथ फेरकर, उन्हें पुचकारकर अपनी ओर से दो दो सेर के लड्डू उन सबको खिलाने के अनंतर उन्हें प्रणाम कर करके मन ही मन मग्न होते हुए दोनों भाई अपने घर गए। तीसरी बात के विषय में परामर्श करने का उस दिन इन्हें अवसर ही न मिला। दोनों भाई घर जाकर सायंकाल के नित्यकृत्य में लग गए, देव-दर्शन में लग गए और भोजन करके आराम करने लगे क्योंकि गोशाला से लौटती बार रात्रि अधिक हो गई थी। अस्तु!

प्रकरण—६२

नौकरी का इस्तीफा

जिस ख्याल से पंडित जी ने भाई की नौकरी छुड़वाई वही उनके लिये था। कदाचित् उससे भी बढ़ कर। उनके संध्यावंदन अग्निहोत्र बलिवैश्वदेवादि नित्य कर्मों में जब जब विघ्न पड़ता तब ही तब वह इस्तीफा दे देने को तय्यार होते। उन्होंने दो तीन बार दिया भी परंतु उनकी कार्यकुशलता, उनकी भलमनसाहत, उनकी सत्यनिष्ठा और उनकी ईमानदारी देखकर ऊपर के अफसरों ने मंजूर नहीं किया। वह पहले ही धर्मनिष्ठ थे और यात्रा ने और भी उनको दृढ़ कर दिया इसलिये उनकी इच्छा नहीं थी कि फिर जाकर नौकरी की चक्की में पिसें। परंतु छुट्टी से वापिस जाकर एक बार अपने पद का चार्ज लेना अनिवार्य था इसलिये उन्हें जाना पड़ा और वह गए भी परंतु इस बार इस्तीफा देकर अपना पिंड छुड़ाने के लिये गए।

वह किसी जमींदारी में कोर्ट आफ् वार्ड्स के मैनेजर थे। वहाँ का राजा अभी निरा बालक था। इधर उनमें ऊपर लिखे हुए गुण लबालब भरे हुए थे इसलिये अफसर उनसे प्रसन्न रहते थे और उनके आगे जब किसी की दाल नहीं गलने पाती थी तब अमला उनसे नाराज! इस कारण लोगों ने उन पर

मिथ्या मिथ्या अभिशाप लगाने में भी कसर नहीं रक्खी। बुरे बुरे और गंदे गंदे इलजाम लगा लगाकर कभी "बंदे खुदा" के नाम से और कभी खुलाखुली शिकायतें करवाईं परंतु जो अपने सिद्धांतों पर अटल है उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। हर एक शिकायत में, हर एक तहकीकात में वह सौ टंच का सोना निकले। सोना ज्यों ज्यों तपाया जाता है त्यों ही त्यों निखर निखरकर उसका रंग, उसका मूल्य बढ़ता जाता है। बस इसी तरह उनका आदर बढ़ा और जो लोग उनका सर्वनाश करने के लिये उधार खाए फिरते थे वे ही उनके आगे लज्जित होने लगे, उनका अनुकरण करने लगे और उनके मित्र बन बनकर उनकी प्रशंसा का ढोल पीटने लगे।

जो कुछ वेतन उनका नियत था, बस उसी में उनको संतोष था। किसी के यहाँ से कोई छोटी मोटी वस्तु यदि भेंट सौगात में आई अथवा बहुत दबाव पड़ने से किसी के यहाँ उन्हें दावत में ही संयुक्त होना पड़ा तो यह रिश्वत नहीं है। यह हाकिमों का सत्कार माना जाता है। इससे दाता का मान बढ़ता है किंतु नहीं! उन्हें इन बातों तक की सौगंद थी। माई के लाल कितने ही ऐसे भी निकल सकते हैं जो इन बातों की सौगंद रखने पर भी हजारों के गट्ठे निगलने में नहीं चूकते। हर एक आदमी के सामने पैसे पैसे के लिये हाथ पसारने से एक ही से इकट्ठा लेना भी अच्छा समझा जाता है। जमाने को देखते हुए वह भी बुरा नहीं समझा

जा सकता। जो किसी को सताकर न लेवे और जो मिल जाय उस पर संतोष कर लो, यह एक प्रकार की दूध भिक्षा कही जाती है किंतु पंडित जी को इन कामों की शपथ ही ठहरी तब जैसी एक पाई वैसे ही दस हजार। एक दिन रात्रि के समय इनको अकेला पाकर एक आदमी आया। उसने आकर कान उठाए, इधर उधर ताककर, आँखों से आँखें मिलाए बिना, कुछ झिझककर, डरते डरते इनके सामने जयपुरी अशर्फियों का ढेर कर दिया। देखते ही इनकी आँखें खुलीं। इन्होंने एक बार सिर से पैर तक उस आदमी पर नजर डाली, फिर उस ढेर को घूरकर अच्छी तरह देखा और तब यह उस आनेवाले से कहने लगे, किसी तरह के राग द्वेष से नहीं किंतु योंही, स्वभाव से इन्होंने कहा—

"क्यों भाई! आज यह क्या?"

"साहब, यह आपके वास्ते मेरी तरफ से एक अदना सी नजर है! मामला आपको मालूम ही है। बस यह जान आपके हाथ में है चाहे जिलाओ, चाहे गर्दन ही क्यों न उड़ा डालो।"

"हाँ! मामला मुझे मालूम है और तुम भरोसा रक्खो कभी तुम्हारे साथ अन्याय न होगा। परंतु इनकी कोई आवश्यकता नहीं। इन्हें ले जाओ और फिर कभी मेरे सामने ऐसी बात का नाम तक न लेना।"

" हाँ ! मैं जानता हूँ कि आपको इन बातों की कसम है लेकिन दस हजार है। एकदम इतनी रकम देनेवाला कोई नहीं मिलेगा और इस पर मेरी जिम्मेवारी है कि फरिश्तों को भी इस बात की खबर न हो। आप मुझे जानते ही हैं। मैं सिर कटने तक अपनी जबान का पाबंद हूँ। बस भरोसा रखिए और मंजूर कीजिए। "

" बेशक आपका कहना ठीक हो सकता है परंतु जैसे इतनी रकम का देनेवाला कोई नहीं मिलेगा वैसे ही दस हजार रुपए पर पेशाब करनेवाला भी आपको नहीं मिलेगा। अभी इनको लेकर तशरीफ ले जाइए और आयंदा इन कामों के लिये मुझे मुँह न दिखलाइए।" बस पंडित जी के मुँह से ऐसे दृढ़ किंतु कठोर वाक्य निकलते ही वह झटपट अशर्फियों को दुपट्टे में बाँधकर गालियाँ देता हुआ लजाकर वहाँ से चल दिया। उनकी ईमानदारी के कोड़ियों नमूनों में से एक यहाँ लिख दिया गया। हंडे के एक चावल को मसकने से सबकी जब परख हो जाती है तब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

यों पंडित जी केवल निर्लोभ हों सो ही नहीं। कितने ही पराए पैसे से घृणा करनेवाले लँगोट के कच्चे निकल आते हैं। परंतु जैसे प्रियंवदा का दृढ़ पातिव्रत उदाहरणीय था वैसे ही यह भी "पर तिय मात समान" की प्रतिमूर्ति थे। इस नौकरी में इनको केवल रुपया दिखाकर ललचानेवाले मिले हों तो खैर परंतु अच्छी रूपवती युवतियों से एकांत में

मिलने का भी इनके लिये अवसर आया। परंतु मजाल क्या जो शह उनकी ओर आँखें उठाकर तो देख लें। इन्होंने माता या भगिनी का संबोधन करके उनको झेंपाया, उनसे गालियाँ खाईं और इतने पर भी वे वहाँ से न डिगीं तो या तो स्वयं ही वहाँ से सटक गए अथवा किसी नौकर चाकर को बुलाकर अपने सिर की बला टाल दी। अवश्य ये ऐसी युवतियाँ होंगी जो लगभग या पूरी बिगड़ चुकी हों क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्री भी कभी अपनी ओर से प्रस्ताव नहीं कर सकती है। इसलिए प्यारे पाठक यदि इन्हें "विपत्ति की कसौटी" की मुलिया मान लें तो उनका दोष नहीं किंतु नहीं जब इनको रूप ही भगवान् ने ऐसा दिया था जिससे स्वभाव ही से एक युवती का इनकी ओर मन आकर्षित हो, इन्हें देखते ही उसके हाथ पैर ढीले पड़ जायँ, इनकी मूरत ही कामदेव को जगा देने के लिये मोहनी मंत्र हो तब केवल इतने ही पर इस बात की इतिश्री न कर देनी चाहिए। इसके नमूने के लिये दो चार उदाहरण लिखे जा सकते हैं। परंतु इस काम के लिये कम से कम दो चार प्रकरण चाहिएँ और यह पोथी बढ़ते बढ़ते पहले ही पोथा बन चुकी है इसलिये उन बातों की कल्पना करने का भार पाठकों पर है।

पंडित जी में जैसे इस प्रकार के अनेक गुण थे वैसे ही साम्राज्य के, राज्य के, मालिक के और प्रजा के शुभचिंतक भी वह एक ही थे। "नमक का हक अदा करना" उनका दृढ़

सिद्धांत था। इसके लिये अपने प्राण तक न्योछावर कर देना वह बड़ी बात नहीं समझते थे। ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में परमेश्वर के अनुग्रह से यदि ऐसा अवसर ही न आवे तो इसको वह क्या करें किन्तु वह तन से, मन से और धन से कभी दूसरे का अप्रिय, अहित नहीं करते थे और जहाँ तक बन सकता था नहीं होने देते थे। इससे पाठक समझ सकते हैं कि जो काम उनके सिपुर्द किया गया उसका उन्होंने कैसा प्रबन्ध किया होगा! प्राय: अमलेवाले इस बात की शिकायत किया करते थे कि वह सजा कड़ा देते हैं किन्तु वह अपराधी को योग्य दंड देकर बदमाशों को ठिकाने ले आए थे इसलिये प्रजा उनकी वाहवाही करती थी। क्षमा-शीलता का भी वह एक नमूना थे। किसी ने क्रोध में आकर उन्हें गाली दी, कोई उन पर आक्रमण करने को तैयार हो गया अथवा किसी ने पत्थर उठाकर मार ही दिया। इस पर उनका अर्दली का सिपाही उसकी गति बनाने को तय्यार हुआ परंतु लाल लाल आंखें निकालकर "नहीं! हरगिज नहीं! खबरदार हाथ उठाया तो!" कहकर उन्होंने उसे रोका और "भोला है! समझ नहीं है! बोल बोल तुझे कष्ट क्या है?" कहते हुए उस मारनेवाले को उलटा लज्जित कर दिया।

ऐसी दशा में यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस समय उन्होंने इस्तीफा दिया सब ही को कितना कष्ट हुआ होगा। हाँ उनका इस्तीफा बड़ी कठिनता से स्वीकार हुआ।

और यों इतने बड़े काम को, इतने बड़े अधिकार को, इतने बड़े वैभव को तिनके की भांति तोड़कर वह अपने घर आ बैठे। जहाँ उन्होंने नौकरी की वहाँ अब भी उनका आदर है, अब भी छोटे बड़े सब लोग इन्हें चाहते हैं। अच्छी नौकरी करने का, शुभचिंतकता करने का यह एक छोटा सा आदर्श है। पाठक पाठिकाओं के अंतःकरण पर अच्छा प्रभाव डालने के लिये यदि उनकी इच्छा हो तो इस खाके के सहारे, यथेच्छ लौट फेर करके वे अच्छी तस्वीर तय्यार कर सकते हैं। यहाँ इतना अवश्य लिख देना चाहिए कि जब तक पंडित प्रियानाथ डाक विभाग में रहे तब तक भी उनका इन बातों में, अपना काम अच्छी तरह अंजाम देने में, सुयश रहा और इधर आ जाने बाद भी वर्द्धमान कीर्ति।

प्रकरण—६४

व्यापार में सत्यनिष्ठा

पंडित जी जब नौकरी पर जाने लगे तब छोटे भैया से कह गए थे कि "देशी माल की एक डाइरेक्टरी तैयार कर लेना। जहाँ तक बन सके यह काम जल्दी हो जाना चाहिए ताकि जो उद्योग करना विचारा है उसका आरंभ मेरे वापिस आते ही कर दिया जाय। डाइरेक्टरी को तीन हिस्सों में विभाजित करना। एक में कलों से तैयार होनेवाले समस्त पदार्थों का समावेश किया जाय, दूसरे में सब प्रकार की देशी कारीगरी जो हाथ से तैयार की जाती है और तीसरे में उन पदार्थों की नामावली दर्ज होनी चाहिए जो किसी दिन बड़े नामी थे किन्तु समय ने, सहायता के अभाव ने अथवा मिल उद्योगों ने तथा विलायती माल ने उनका बनना बन्द कर दिया है। हाँ इस बात का अवश्य ख्याल रखना होगा कि वह माल उत्तेजना देने से अब भी तैयार हो सकता है या नहीं! जहाँ तक बन सके नमूनों का भी संग्रह कर लेना।" कहने में यह बात जितनी सीधी दिखलाई देती है करना उतना ही कठिन मालूम पड़ा। युरोपियन सज्जनों की बनाई हुई डाइरेक्टरियों से पहला हिस्सा तैयार करने में विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ा। दूसरे और तीसरे भाग के लिये मराठी

भाषा के "व्यापारी भूगोल" से और मिस्टर मुकरजी की अँगरेजी किताब से तथा "भारत की कारीगरी" से मदद अवश्य मिली परंतु ये सब की सब कुछ कुछ पुरानी पड़ गईं और इस पुस्तक में आज दिन तक की उन्नति का समावेश होना चाहिए। यदि समाचारपत्रों के विज्ञापनों का सहारा लिया जाय तो प्रथम तो उनमें ताकत की दवा और कामसंजीवन, सोजाक तथा उपदंश की रामबाण दवाओं की भर-मार, देशी कारीगरी के नोटिस ही विरले फिर कितने ही लोगों की नस नस में बेईमानी यहाँ तक भरी हुई है कि विलायती माल को देशी बतलाकर बेचते हैं, उनका ट्रेड मार्क बदल देते हैं, विलायत से ही देशी नाम का ट्रेडमार्क लगवाकर तथा बन्द माल मँगवा लेते हैं और देशी और विलायती को मिलाकर देशी के नाम से बेचते हैं। यदि विलायती बारीक सूत से देशी धोती जोड़े बनाकर उन्हें देशी के नाम से बेचा जाय तब भी गनीमत है। उनमें कुछ तो देशीपन है परंतु इस तरह की धोखेबाजी देखकर कांतानाथ एक बार घबड़ा उठे। उन्होंने इस काम के लिये समाचारपत्रों में नोटिस भी दिए किन्तु व्याख्यानबाजी से परोपदेश करने के आगे किसी को अवकाश ही कहाँ ? तब इन्होंने कुछ खुशामद करके, कुछ दे दिलाकर और कुछ लोकोपकार समझाकर कितने ही आदमी ऐसे खड़े किए जिन्होंने इस काम में सहायता करके उसे संग्रह किया। यों जिस समय पंडित जी इस्तीफा देकर अपने घर

आए, उन्हें बहुत ही उत्तम तो नहीं परंतु जैसी तैसी डाइरेक्टरी तैयार मिल गई। पंडित जी इसके साथ नमूनों का संग्रह देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कांतानाथ को शाबाशी देकर यहाँ तक कह दिया कि—

"करनेवाला तो परमात्मा है परंतु आशा है कि सफलता होगी। इसके लिये सबसे बड़ा काम यही था जो तुमने कर लिया।"

"सब आपके अनुग्रह से, आपके प्रताप से और आपके उपदेश से। काम क्योंकर करना, सो पहले ही मैं आपको लिख चुका और अब भी संक्षेप से सुना दूँगा। अभी तक इस काम के लिये तीन सौ तेंतीस तेरह आने तीन पाई खर्च हुआ है। और काम छेड़ते ही रुपए की आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिये अभी दस हजार रुपए चाहिएँ। यह रकम कम से कम है। ज्यों ज्यों काम बढ़ेगा त्यों त्यों रुपए की आवश्यकता बढ़ेगी किंतु मैं घर में से एक पाई भी नहीं दे सकता। जितना रुपया था वह अभी इधर उधर व्यापार धंधे में, जमींदारी में लगा हुआ है। उधर से रुपया खैंचना अध्रुव के भरोसे ध्रुव आय को, निश्चित आमदनी को बिगाड़ देना है। परमेश्वर करे इस उद्योग में सफलता हो और आपके प्रताप से लाभ ही होगा परंतु........."

"हाँ! परंतु कहकर रुक क्यों गए? यही कहोगे ना कि रुपया चाहिए। बेशक! सबसे पहले आवश्यकता रुपए

की है। आजकल दुनिया में रुपया ही सब से बड़ी चीज समझी जाती है। लोग कहते हैं कि "रुपया खुदा का बच्चा है" परंतु अब तो स्वार्थी जीवों ने उसे खुदा का बाप तक मान लिया है। खैर! इसके लिये पाँच पाँच रुपए के शेअरों से कंपनी खड़ी कर सकते हैं। युरोपवालों को इस उद्योग से ही बड़ा लाभ हुआ है परंतु भारत की कंपनियाँ पनपती नहीं। ईश्वर की कृपा से अब इस प्रकार का उद्योग उन्नति पर है। इस उद्योग से "पाँच जने की लाकड़ी और एक जने का बोझ।" किसी पर विशेष बोझा नहीं पड़ता और अनायास रुपया इकट्ठा हो जाता है परंतु प्रथम तो मिलकर काम करने की भारत-वासियों में आदत नहीं। दूसरे हम लोगों में सत्यनिष्ठा की मात्रा बहुत घट गई है। बेईमानी आगे और सचाई पीछे। तीसरे अभी तक हम लोग इस उद्योग में युरोपियनों के समान दक्ष नहीं हुए हैं। इस कारण अपने अनजानपन से ऐसी ऐसी भूलें कर बैठते हैं जिनके कारण चढ़ने के बदले गिरते हैं, नफे की जगह टोटा उठाते हैं। और चौथे यह कि परदेशी व्यापारियों के जोर से उनके स्वार्थ में विघ्न न पड़ने पावे इसलिये हमारे यहाँ के कायदे कानून भी हमें ऐसे उद्योगों की उत्तेजना देने के स्थान में अधिक अधिक जकड़ते हैं। कंपनियों के ठीक ठीक न पनपने के, जन्म लेकर नाश हो जाने के, दिवाले पड़ जाने के ऐसे ही अनेक कारण हैं। इसलिये इस कार्य के लिये कंपनी खड़ी करना मैं अभी उचित नहीं समझता।"

" तब ? "

" वास्तव में तुम्हारे " तब " का जवाब बड़ा मुशकिल है। भारतवर्ष भर में प्रसिद्ध है कि " साँझे की तो होली अच्छी जिसे जला दिया जाय। " हम लोगों की आदत ही नहीं है कि साँझे में काम करके उसे पार उतार ले जायँ। भारतवर्ष उद्योगशील अँगरेजों की छत्रछाया में आकर जिन कारणों से अब तक दरिद्री बना हुआ है उनमें एक यह भी है कि हम लोग मिलकर काम करना नहीं जानते। परमेश्वर के अनुग्रह से अब सीखने लगे हैं और सफलता भी प्राप्त करते जाते हैं परंतु यहाँ जो कार्य एक व्यक्ति की बुद्धि से, बल से, विद्या और पुरुषार्थ से हो सकता है वह अनेक से नहीं। यदि एक अगुवा बनकर समुदाय को अपनी ओर झुकाना चाहे तो सहज में झुका सकता है। " दुनिया झुकती है झुकानेवाला चाहिए। " किंतु जहाँ दस आदमी मिलकर काम करते हैं वहाँ आपस में खेंचातानी होती है, थुक्का फजीहत होती है। "

" हाँ ! आपका कथन यथार्थ है परंतु तब ? "

" घबड़ाओ मत ! मैंने पहले ही से सोच लिया है ! यदि पहले से इसका निश्चय न कर लेता तो अभी इस काम में हाथ न डालता। इतना परिश्रम और इतना खर्च ही क्यों करवाता ? "

" हाँ सो तो मुझे भी निश्चय है। परंतु ? "

"अभी दस हजार के बदले पाँच ही हजार से कार्य आरंभ कर दो। पिता जी के प्रताप से परमेश्वर की कृपा से धंधे पर तुमको रुपया मिल जायगा। कंपनी के नाम का, विज्ञापनबाजी का, और ऐसे ही और तरह का आडंबर बिलकुल मत करना। आडंबर लोगों को ठगनेवाले करते हैं। झूठे व्यवहारवाले को अपनी सचाई जतलाने के लिये ऐसे ऐसे ढोंग करने पड़ते हैं। आरंभ में चाहे नफा कम मिले, चाहे प्रसिद्धि देर से हो और काम धीरा ही क्यों न हो परंतु व्यापार में सत्यनिष्ठा सब से बड़ी सहायक है। यदि तुम थोड़ा नफा लेकर, एक ही भाव पर, घटाए बढ़ाए बिना नियत मूल्य पर नकद दामों से माल बेचोगे, यदि लोगों को विदित हो जायगा अथवा यों कहो कि तुम ग्राहकों के मन पर यह जमा सकोगे कि तुम्हारे यहाँ झूठ का नाम तक नहीं है, यदि एक बच्चा तुम्हारे यहाँ लेने आवे तब भी वही भाव और बड़ा आवे तब भी वही, तो लोग दौड़ दौड़कर तुम्हारे यहाँ आवेंगे। हर एक चीज पर उसकी खरीद की मिती और असली कीमत खर्चे समेत लिखकर चिट चिपका दो। खरीदार स्वयं उसके अनुसार दाम देकर ले जायगा। भाव ठहराने का बिलकुल काम ही नहीं! जब तुम उधार किसी को दोगे ही नहीं तब रुपया डूबने का काम क्या? माल वही मँगवाना जिसकी बिक्री हो! जब औरों की तरह तुम अनाप सनाप नफा न लोगे तब तुम्हारा माल अवश्य सस्ता पड़ेगा।

देशी माल टिकाऊपन के लिये प्रसिद्ध है। एक बार चाहे खर्च कुछ अधिक पड़े परंतु फिर फटने का, टूट जाने का और बिगड़ जाने का नाम तक नहीं जानता ! ये बातें तुम जब लोगों के चित्त पर ठसा दोगे तब तुम्हारी दूकान से माल खरीदते हुए और जगह कहीं भी ग्राहक न जायँगे।"

"और दूकान का नाम ?"

" दूकान का नाम "राधानाथ रमानाथ।" वही दादा जी और बापू जी का नाम। सब प्रताप उन्हीं का है।"

"उत्तम है। परंतु क्यों जी भाई साहब ! जब माल पर खर्चे समेत असली कीमत लिख दी जायगी तब व्याज ?"

"दो महीने का व्याज तो खर्चे में शामिल कर देना और कोई चीज सिवाय दिनों तक पड़ी रह जाय तो उसके लिये ही चिट पर मिती लिखना है।"

"अच्छा ! और माल बिका ही नहीं तो उसका टोटा कहाँ से निकलेगा ?"

"बिके हुए माल के नफे से। और न भी निकले तो भुगतना। तुम्हारी दूकान की मखमल का घाटा गजी खरीदने-वाला क्यों भुगते ?"

"बेशक ! ठीक है। अब रुपए का ही सवाल बाकी है।"

"पाँच हजार रुपया तुम्हारी भाभी का बैंक में जमा है। उसे उसके नाना के यहाँ से मिला था। व्याज मिलाकर कोई सात आठ हजार हो गया है। आज कल बैंकों के

द्विवाले भी बहुत निकलते हैं। देशी व्यापार और देशी कारी-गरी की उन्नति के लिये ही बैंकों में जमा करना है और वही काम तुम करना चाहते हो। बस इसलिये तुमको रुपया उधार नहीं लेना पड़ेगा। बस भाभी सेठ और देवर गुमाश्ता! उससे पूछ लेना।"

"हैं! क्या मैं सेठ? (दोनों के बीच से बात काटकर) क्या वह रुपया अभी तक बैंक में ही जमा है? मैं तो भूल ही गई थी। पर मुझसे पूछने की क्या आवश्यकता आ पड़ी? मेरा उससे कुछ वास्ता नहीं। मैं कुछ नहीं जानती। आपके मन में आवे सो करो। मेरा वास्ता तो आपके चरणारविंदों से है। मुझे रुपयों से क्या मतलब?" प्रियंवदा के मुख से इतने वाक्य निकलने पर पंडित जी "बेशक ऐसा ही है और होना भी चाहिए किंतु वह स्त्री-धन है, तेरे नाना का दिया हुआ है इसलिये तेरी राय ले लेना आवश्यक था और जब तू घर में (कुछ मुसकुराकर) बड़ी बूढ़ी है तब घर के कामों में भी तुझसे सलाह ली जाय तो अच्छा ही है।" कहकर चुप हो गए और "हाँ! हाँ!! भाभी सेठ और मैं गुमाश्ता! इस धंधे की सब बातें तुमसे पूछ पूछकर करूँगा।" कहते हुए कांतानाथ ने भाई साहब की बात का अनुमोदन किया। "बेशक मेरी भी राय है।" कहते कहते प्रियंवदा का मुँह दोनों बालकों ने आकर पकड़ लिया। "अम्मा दूध! अम्मा चीनी! अम्मा मिठाई!" की रट लगाकर अम्मा को वहाँ से

दोनों बालक पकड़ ले गए। न उन्होंने अम्मा को एक शब्द बोलने दिया और न किसी की कान पड़ी बात सुनने दी। पंडित जी ने उन्हें अपने पास बहुतेरा बुलाया किंतु अम्मा की गोदी छोड़कर उनके पास एक भी न आया। और लाचार होकर प्रियंवदा को वहाँ से उठ जाना पड़ा। वह गई और अपनी रेशमी नई निकोर साड़ी पर धूल में सने हुए दोनों बच्चों को दहनी और बाईं गोदी में चढ़ाए हुए ले गई। इस प्रकार की लीला समाप्त होने पर प्रियानाथ ने कांतानाथ से कहा—

"बस रुपयों का तै हो गया! अब कर्तव्य यह है कि गौड़बोले महाशय से शुभ मुहूर्त पूछकर कार्य का आरंभ कर दो। "शुभस्य शीघ्रम्।" जब मसाला तैयार है तब जितनी ही जल्दी की जाय अच्छा है।"

"बेशक! परंतु एक बार व्यवस्था पर फिर गौर कर लेना चाहिए। मेरा विचार इस कार्य को तीन हिस्सों में बाँट देने का है। भारतवर्ष की मिलों का बना हुआ कपड़ा अथवा और और सामान बिक्री का ढंग देखकर कमीशन सेल पर अथवा अधिक बिक्री होती हो तो खरीदकर मँगवाया जाय। पहला हिस्सा तो यही समझना चाहिए। दूसरे हिस्से में दस्ती कारीगरी है। हाथ के बने कपड़े, बरतन आदि के जितने नमूने इकट्ठे हुए हैं उनमें से जो अवश्य ही बिक जाने योग्य हैं उनको तो थोड़ा थोड़ा मँगवा ही लेना और बाकी बचे हुओं को काँच की अलमारियों में प्रदर्शनी के लिये दूकान में

सजाकर रखना। उन्हें लोगों को दिखाकर खरीदने की उत्तेजना देना। तीसरा काम इन दोनों से भारी है। उसमें खर्च और मेहनत दोनों की आवश्यकता है। परंतु साथ ही वह काम भी बहुत जरूरी है।"

"हाँ! मैं समझ गया। वास्तव में बहुत आवश्यक है। काम को छोटे किंतु दृढ़ पाए पर आरंभ करना चाहिए। पहले, सबसे पूर्व मालपुरे और टौंक के नमदे ही लो। वहाँ नमदे और घूगियाँ अब भी बहुत नफीस बनती हैं। बनानेवाले अपढ़ बेशक हैं परंतु हैं कारीगर। उन्हें थोड़ा बहुत सिखाने से वे नमदे तो नमदे किंतु फेल्ट टोपियाँ भी अच्छी बना सकते हैं।"

"वास्तव में यही मेरा संकल्प था और मैंने इसके लिये साँचे भी बनवा लिए हैं और रंग भी उन पर पक्का जमने लगा है।"

"शाबाश (साँचे और रंग का नमूना देखकर) बहुत अच्छा हुआ!"

"इसी तरह बीकानेर की लोई, कोटे के डोरिये, बूँदी का रंग और ऐसा कोई रजवाड़ा नहीं जो किसी न किसी तरह की कारीगरी के लिए प्रसिद्ध न हो। जयपुर तो कारीगरी के लिये केंद्र ही ठहरा।"

इस तरह की सलाह करके जो ठहराव हुआ उसके अनुसार कार्तिक सुदी से अजमेर में वहीं "राधानाथ रमानाथ"

के नाम पर शास्त्र-विधि से गणेश-पूजन करके दूकान खोल दी गई और जब कांतानाथ जैसे व्यवसायी का प्रबंध था, जब पंडित जी जैसे अनुभवी का निरीक्षण था और जब सत्यनिष्ठा ही इनका मूल मंत्र था तब सफलता होने में आश्चर्य क्या? पंडित जी के मनोराज्य में सफलता अवश्य हुई और सो भी ऐसी कि जिसकी नकल जगह जगह होने लगी। नकल होने से ये लोग नाराज नहीं हुए। पंडित जी ने स्पष्ट ही कह दिया कि—"हमारे अनुभव से यदि लोग लाभ उठावें तो हमारा सौभाग्य! ऐसे कामों की नकल होने ही में देश का कल्याण है। हमने इसी लिये नमूना खड़ा किया था।"

यदि पाठक चाहें तो इसका अनुकरण करके लाभ उठाने का उन्हें अधिकार है। उन्हें अवश्य ऐसी दूकानें खोलनी चाहिएँ।

प्रकरण—६५

प्रेत का मोक्ष

"क्या जी! तब आपका वहम अभी तक नहीं निकला? जब जिक्र आता है तब ही "आबू के साधु" का नाम लेकर आप ताना दिया करते हैं। क्या सचमुच ही आपको संदेह है? अथवा विनोद के लिये?"

"वहम और विनोद, परस्पर शत्रु हैं। जहाँ वहम वहाँ विनोद नहीं और जहाँ विनोद वहाँ वहम का काम क्या? परंतु यहाँ वहम भी है और विनोद भी है। जो हैं तो दोनों हैं और नहीं तो दोनों नहीं! अथवा कभी एक और कभी दूसरा!"

"वाह! सब कुछ कह दिया और कुछ भी नहीं कहा। आपके ऐसे तर्क से मैं गँवारी क्या समझूँ कि आपके मन में क्या है? पहेली न बुझाइए। साफ कहिए कि आपके मन में क्या है? इस दासी को अच्छी तरह समझा दीजिए कि आपके मन में क्या है? आप विनोद से कहते हैं और मेरे ऊपर सौ घड़े पानी पड़ जाता है।"

"अच्छा! तू ही कह कि मेरे मन में वहम है अथवा विनोद? जब मेरे दिल का तेरे दिल में टेलीफोन है तब तू स्वयं सोच सकती है कि वहम है या विनोद! तैंने तो दावा किया है न कि तू दूसरे के मन को पहचान सकती है?"

"बेशक ! दावा किया है और अब भी मेरा दावा है। मैंने उसके हाव, भाव और कटाक्ष से जान लिया था कि उसका मन निर्विकार है। जैसा तप उसके मुख पर वरुणा गुफा के निकट झलकता था वैसा ही आबू पर। फिर आप भी तो बतलाइए कि वह कहाँ तक निर्दोष था ?"

"हाँ ! मैंने मान लिया, मैं पहले ही से मान रहा हूँ कि तू निर्दोष है और जब तू दृढ़ है तब यदि उसका मन भी विचलित होता तो वह तेरा कर ही क्या सकता था ? परंतु तेरे मन में संकल्प भी क्यों हुआ कि उसके पास रात्रि में जाना चाहिए और सो भी बेटा माँगने के लिये ?"

"संकल्प बेशक हुआ। और हुआ भी इसी लालसा से किंतु बूढ़ी माँ के परामर्श से हुआ और आपको और उन्हें साथ ले जाने के इरादे से ! इरादा वास्तव में हुआ और सो भी नारी-हृदय की उस अलौकिक वासना के कारण ! पुरुषों की अपेक्षा रमणियों को अपनी संतान पर अधिक प्रेम होता है। स्त्रियों की सृष्टि ही इसलिये है कि प्रजा की वृद्धि हो। विवाह ही संतान की उत्पत्ति के लिये किया जाता है। माता ही पिता की अपेक्षा संतान पैदा न होने से, गर्भ की यंत्रणा से, प्रसव की वेदना से और संतान के लालन पालन में अधिक कष्ट पाती है किंतु स्नेह भी उसका अलौकिक है, अमानुषी है, दैवी है। यदि दैवी नहीं है तो पशु पक्षी अपनी संतान का लालन पालन किस सेवा के लिये, किस कमाई के लिये करते हैं। केवल

संतान के लिये नारियाँ न मालूम क्या क्या कर डालती हैं, ताजियों के नीचे निकलती हैं, पीर पैगंबरों को, भूत प्रेतों को, कबरों और मसानों को पूजती हैं। यदि आप थोड़ी देर के लिये रमणी बन जायँ तब आपको हमारा हृदय मालूम हो सके।"

"नारी न बनने पर भी मैं हृदय से उस अलौकिक वासना का अनुभव कर रहा हूँ। नारी भी तो एक बार तू बना चुकी है किंतु वासना वही करनी चाहिए जो अपने हाथ हो, उपाय वही करना चाहिए जो निर्दोष हो।"

"वासना बेशक मेरी थी और उसका नतीजा भगवान् के हाथ था। और मनुष्य की यावत् वासनाओं का परिणाम परमेश्वर के अधीन है। जब स्त्री जाति में संतान उत्पन्न करने की स्वाभाविक वासना है तब मैंने भी की तो बुरा क्या किया? संतान बिना गोद सूनी, घर सूना और कुल सूना पाकर और अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिये, अपना जीवन सार्थक करने की इच्छा से मैंने वैसा किया था।"

"वास्तव में सत्य है। मैंने मान लिया कि तेरी इच्छा निर्दोष थी परंतु जो उपाय तैंने सोचा था वह उचित नहीं था। भयंकर था। उसका परिणाम शायद यहाँ तक हो सकता था कि हम दुनिया में मुँह दिखाने योग्य न रहते।"

"हाँ यह मेरी भूल है। यों तो मेरा इरादा आपको साथ लेकर जाने का था। आपकी सहगामिनी रहने में भय नहीं किंतु इरादा भी करना अच्छा नहीं।"

"खैर ! तैने अपनी भूल स्वीकार कर ली। तब मैं पूछता हूँ कि यदि वह निर्दोष था तो उसने रात्रि को तुझे क्यों बुलाया ?"

"उसका चेहरा निर्विकार था, तप उसके मुख के भाव से टपका पड़ता था इसलिये मानना पड़ेगा उसने मुझे बुरी नीयत से नहीं बुलाया। उसने बुलाया था मंत्र देने के लिये और दिन में अवकाश न मिलने से, आह्निक के निपट जाने पर रात्रि के समय देने के लिये। तिस पर भी मैं भूल स्वीकार करती हूँ। भूल जगज्जननी जानकी से हुई है। मैं बिचारी गँवारी किस गिनती में !"

"अच्छा भूल स्वीकार करती है तो बोल हारी !"

"एक बार नहीं लाख बार हारी। आपसे तो हारने में ही शोभा है, हारने में ही कर्तव्यपालन है।"

"अच्छा हार गई तो दंड ! दंड भी भोगना होगा।"

"पर दंड आपने क्या सोचा है ?"

"प्रयाग का सा साफा और कोट !"

"नहीं सरकार, ऐसा नहीं होगा ! मैं एक बार पहन चुकी ! अब पारी आपकी है। आपको पहनना पड़ेगा। पहनकर वादा पूरा करना होगा। आज मैं अपने हाथों से पहनाऊँगी। पगड़ी की जगह साड़ी, धोती के बदले लहँगा और कोट की ठौर अँगिया पहनाऊँगी और रच रचकर सजाऊँगी। ऐसी सजाऊँगी जिससे कोई पहचान न सके कि आप पंडित प्रियंवदानाथ हैं।"

"भला तो पक्की ठान ली ? सचमुच ही ? जरूर ही ? तब "प्रियानाथ" क्यों नहीं ?"

"हाँ ! हाँ ! (कुछ झेंपकर) सत्य ही ! और सो भी इसलिये कि जीते को हराना चाहिए, हारी को जिताना चाहिए। मैं एक बार हारकर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुकी। पितामह भीष्म ने अपना सर्वस्व अर्पण करके ही भगवान् को हराया था। श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा तुड़वा दी थी। बस मैं भी हराऊँगी।" इस तरह कहकर भगवान् पुष्पधन्वा के बाणों का प्रयोग करती हुई खूँटी पर से कपड़े उतारकर ज्योंही हँसते हँसते, मुसकुराते मुसकुराते वह पहनाने लगी त्योंही किवाड़ अकस्मात् खटके। बाहर से कुछ सुरसुराहट की हलकी सी आवाज आई और तब "हाय यह फिर क्या गजब हो गया !" कहकर वह उसी दम मूर्च्छित हो गई। "हैं ! हैं ! बावली यह क्यों ? क्या अब भी तेरे दिमाग में से भूत का भय नहीं निकला।" कहते हुए प्राणनाथ ने शीतोदक सिंचन से प्यारी के नेत्र युगलों का अभिषेक किया और साथ ही थोड़ा सा ठंढा ठंढा शरबत पिलाया। कोई पाँच मिनट में जब उसके होश ठिकाने आ गए तब प्रियंवदा कहने लगी—

"आपके पुण्य प्रताप से भूत बेशक अब नहीं रहा किंतु मेरे अंत:करण से अभी तक भय नहीं निकला। योंही मुझे रस्सी का साँप दिखलाई दिया करता है।"

"भय न निकलने में तेरा कुसूर नहीं। प्रयाग और गया की घटना ने मुझे भी मनवा दिया कि यह भी कोई योनि है। जिन बातों को तर्क साबित नहीं कर सकता वे अनुभव से प्रमाणित होती हैं। परंतु जैसे अनुभव ने यह साबित कर दिया कि (रोकर) माता को प्रेतयोनि मिली थी वैसे ही यह भी तो प्रमाणित कर दिया कि उसकी मोक्ष हो गई। फिर डरती क्यों है?"

"सरकार डरना स्त्रियों का स्वभाव है। उनकी रक्षा करने का साधन है। एक बार जब भय अंत:करण में प्रवेश कर जाता है फिर उसका निकलना मुश्किल है। केवल भय ही नहीं, नारी-हृदय में बुरे वा भले जैसे संस्कार अंकित हो जाते हैं उनका निकलना कठिन है। रमणी-हृदय वज्र से भी कठोर और कमल से भी कोमल है। परंतु क्यों जी, उनको ऐसी योनि क्यों मिली जिन्होंने आजीवन कोई पाप नहीं किया? जिन्होंने पचास वर्ष अपने सतीत्व की रक्षा करके विधवापन में निकाल दिए और जो सदा ही भगवान् के भजन में अपना मन लगाए रहती थीं उन्हें ऐसा दंड? कुछ समझ में नहीं आता।"

"अवश्य ऐसा ही है। वह मेरी जन्मदात्री न सही परंतु माता से भी बढ़कर थीं। उन्होंने हमारा लालन पालन किया है। यह शरीर उन्हीं के अनुग्रह से है। वह हमें पेट के बेटों से भी बढ़कर समझती थीं। उन्होंने जब से जन्म लिया तब से कभी सुख नहीं पाया था। हमारे दु:ख को अपना दु:ख और

हमारे सुख में अपना सुख मानने से ही उन्हें आसक्ति हुई। बस यह आसक्ति ही सब झगड़ों की जड़ है। केवल आसक्ति से ही जब कीड़ा भँवर हो जाता है तब वही उसे इस योनि में घसीट ले गई। घसीट ले जाने पर भी उसके सद्गुणों के प्रभाव ने, उसके सुकर्मों ने उसे प्रेतयोनि पाने पर भी कुकर्मों में प्रवृत्त नहीं होने दिया, इसलिये ही उसने तुमको सताने के व्याज से सुझाया और अल्प पाप का, अल्प आसक्ति का अल्प ही दंड मिलकर उसका छुटकारा हो गया।"

"हाँ ठीक है। यथार्थ है। वास्तव में उन्होंने मरने पर भी हमारी भलाई की। यह (बालक को दिखाकर) उन्हीं के आशीर्वाद का फल है। उन्होंने स्वयं दुःख उठाकर हमें सुख पहुँचाया। हमें अपने कर्तव्य की, गया-श्राद्धादि करने की, यात्रा का सुख लूटने की याद दिलाई। धन्य है! लाख बार धन्य है!! मैं अब बहुत पछताती हूँ। उन्हें बुरा भला कहने पर अपने आपको धिक्कारती हूँ। अब, जब मैं सोचती हूँ तब निश्चय होता है कि उनके जीते जी मैं जो उनसे अपना दुःख मानती थी सो भी भूल से। उसमें दोष मेरा ही था। उनकी सीधी शिक्षा भी मुझे टेढ़ी लगती थी। भगवान् इस पाप से मेरी रक्षा करे।"

जिस समय इनका इस तरह संभाषण हो रहा था फिर वही पहले की सी आवाज आई। "कोई है? बाहर कोई अवश्य है। शायद कोई तुझे बाहर बुला रहा है।"

"रात के बारह बजे मुझे कौन निगोड़ा बुलाने आया ?"

"शायद घुरहू हो या आबू का साधु !"

"नहीं जी ! हर बार की दिल्लगी अच्छी नहीं। बाहर से कोई सुनता हो तो न मालूम क्या समझे ? आग लगे उन दोनों के ! एक तो गया जहन्नुम में और दूसरे का भी मेरे सामने नाम न लो।"

"खैर तो और कोई होगा, शायद बहू आई हो। आज छोटा भैया भी तो यहाँ नहीं है। जीजी को अपना दुःख दर्द सुनाने आई हो ! जल्दी किवाड़ा खोलकर देख तो कौन है ?"

"नहीं मैं न खोलूँगी। मुझे डर लगता है। फिर आपके लिये कोई नई दिल्लगी खड़ी हो जाय।"

इतनी बातचीत हो चुकने पर पंडित जी खड़े हो गए। प्रियंवदा ने किवाड़ खोले। किवाड़ खुलते ही लालटैन लिए हुए सुखदा संकोच से पीछे को हटी और तब "बहन क्या बात है ?" कहकर प्रियंवदा ने उसे रोका। पंडित जी हटकर अलग चले गए और देवरानी जेठानी में इस तरह बातें हुई—

"मैंने यहाँ आकर तुमको जगा दिया। मैं माफी माँगती हूँ परंतु करूँ क्या ? (लड़के की ओर इशारा करके) आज न आप सोता है और न मुझे नींद लेने देता है। बस "अम्मा ! अम्मा !!" की रट लगाकर इसने मेरा बुरा हाल कर रखा है। मैंने तो पहले ही तुमसे कह दिया था कि यह मेरे पास न रहेगा। बस सँभालो अपनी धरोहर ताकि मैं सुख से सोऊँ !"

"हाँ वीर ! मेरी धरोहर। बस मुझे भी यही चाहिए। दिए जा ऐसी ऐसी धरोहरें और मेरे भरोसे सुख से सो। जितने होंगे सबको मैं अबेर लूँगी।"

"बस बस ! (मुसकुराकर) दिल्लगी न करो। भगवान् ने जो दिए हैं वे ही सुख से रहें।" कहती हुई बालक को जेठानी की गोदी में देकर सुखदा अपने कमरे में जा सोई और इधर छोटा नन्हा बड़े भाई के पास जाकर सो गया। दोनों को सुलाकर बस वे दोनों भी सो गए।

प्रकरण—६६

बालशिक्षा और परोपकार व्रत

भोला कहार पहले ही कामचोर था। अब उसे अच्छा बहाना मिल गया। अपने अपने मालिकों की धोतियाँ धोने का काम तो दोनों बहू रानियाँ करती हैं, बरतन चौका करने और झाड़ू बुहारे के काम पर, पानी भरने पर दो नौकरनियाँ अलग हैं किंतु कामचोर भोला से दोनों मालकिनों की धोतियाँ धो देना भी नहीं बनता है। घंटों तक धोतियाँ पड़ी पड़ी पानी में मट्टी से और धूल से खराब हो जायँ तो कुछ पर्वाह नहीं। "निपूता धोता अच्छी तरह है। खूब कछारकर धोता है इसलिये उसके भरोसे छोड़ देती हैं। नहीं तो हम ही धो डालें तो क्या हमारे हाथ घिस जायँ," कहकर प्रियंवदा कई बार उसे फटकारती है, गुस्से में आकर सुखदा दोनों धोतियों को जेठानी के मना करने पर भी धो डालती है और उसकी ऐसी हरकत देखकर कांतानाथ कभी कभी उसके एकाध चपत भी जमा दिया करते हैं परंतु उसके लिये ऐसी फटकार, ऐसे ताने और ऐसी चपतें "हाथी पर अर्क फल की मार" की तरह कुछ असर थोड़े ही करती हैं? बहाने बनाने को तो भोला मानों टकसाल ही ठहरा! यदि उसे कहीं भेजने की आवश्यकता पड़ी तो बहाना और जो कहीं घर का ही

कुछ काम बतला दिया तो बहाना ! और बहाना भी ऐसा वैसा नहीं । "बच्चों को खिला रहा हूँ । और ये रोने लगें तब ?" बस इसलिये उसके क़ुसूर मुआफ हैं । बालक भी उससे ऐसे हिले हुए हैं कि बात न पूछो ! कोई उसे लातें मारता है, कोई उसे काटता है और कोई उसे गेंद मारकर भाग जाता है । इन दोनों बालकों के पास अड़ोस पड़ोस के कई बच्चे खेलने को आ जाया करते हैं । ये सब बालक आपस में कभी लड़ते हैं, कभी मार देते हैं, कभी गालियाँ देते हैं किंतु भोला चुप ! उसे हँसने के सिवाय कुछ काम नहीं । इधर बच्चे खेला करते हैं और उधर भोला पड़ा पड़ा नींद में खुर्राटे भरा करता है । कोई बालक उसकी टाँग खैंचता है तो चुप और कोई उसके कपड़े खैंच भागता है तो "ऊँ ऊँ ! यह क्या करते हो ? मैं आज मालिक से तुम्हारी चुगली खाकर न पिटवाऊँ तो मेरा नाम भोला नहीं ।" कहने के सिवाय चुप ! बालकों का जी इस पर और इसका बालकों पर देख-कर दोनों मालकिनें इसे खाना भी अच्छा देती हैं । कभी कभी यह नाराज होकर जब रूठ जाता है तब बालक रो रोकर घर भर दिया करते हैं इसलिये इससे कोई विशेष कुछ कहता सुनता भी नहीं । बस इस तरह इसकी खूब पटती है ।

बड़े मालिक इससे अवश्य नाराज हैं । ऐसे तो नाराज नहीं जो कभी क्रोध में आकर इसे निकाल बाहर करें क्योंकि "बुरा या भला जैसा है पुराना नौकर है । कामचोर अवश्य

सही परंतु लँगोट का सच्चा है, बेईमान नहीं। यदि अन-गिनित रुपए दे दो तो भी क्या मजाल जो एक पाई का फर्क पड़े।" यही उनका भोला के लिये सर्टिफिकेट है, और हजार उनके नाराज रहने पर भी इसी की बदौलत वह मौज करता है। फिर यदि पंडित जी नाराज होकर इसे निकालने को भी तय्यार हो जायँ तो इसकी सिफारिश करनेवाले बहुत हैं। दोनों बालक तक तय्यार हैं। बस इसलिये उसे निश्चय है कि "मैं निकाला हरगिज भी न जाऊँगा।" और जब उसके "जोरू न जाता अल्ला मियाँ से नाता" है तब उसे पर्वाह भी क्या!

खैर! इसे यदि पर्वाह नहीं है तो न सही परंतु पंडित जी को भय है कि कहीं इसकी कुसंगत से बालक बिगड़ न जायँ। इस समय उनकी कच्ची उमर है। जैसा बाहर का संस्कार होगा वैसी ही उनका चरित्र गठेगा। कुम्हार मिट्टी के लोंदे को चाक पर रखकर जैसा बरतन बनाना चाहे वैसाही बन जाता है। ये बच्चे मिट्टी के लोंदा, भोला कुम्हार और चाक इनका खेल। इस बात से इन्हें पूरा खटका है क्योंकि इन्हें निश्चय है कि गौड़बोले की शिक्षा का, माता पिता की रक्षा का नन्हों पर उतना असर नहीं होगा जितना भोला के कुसंस्कारों का। सुखदा इन बातों की बारीकी सम-झनेवाली नहीं, कांतानाथ लज्जा के मारे चुप रह जाते हैं, प्रियंवदा सब बातें जानने पर भी "बालकों का मन मैला न होने पावे।" इसलिये दर गुजर करती है। इसलिये पंडितजी

से कोई कहनेवाला है तो केवल गौड़बोले। उन्होंने कई बार पंडित जी से कहा है और खैंचकर यहाँ तक कह डाला है—

"यदि आप बालकों को इस तरह बिगाड़ेंगे तो मैं चला जाऊँगा। आपका नुकसान मुझसे देखा नहीं जाता। यदि आपके हजार रुपए की हानि हो जाय तो कुछ चिंता नहीं किंतु यह नुकसान जन्म भर का है, पीढ़ियों तक है, अटल है, अमिट है। दोनों बालक कुशाग्रबुद्धि हैं। इन्हें विशेष समझाना नहीं पड़ता। विशेष रटाना नहीं पड़ता। छोटा लड़का कुछ ढीठ अवश्य है, जिद्दी है परंतु समय पाकर ये ऐब निकल सकते हैं। केवल आपके निरीक्षण की आवश्यकता है। इनकी शिक्षा दीक्षा का काम आपको अपने हाथ में लेना चाहिए। हाँ! मैं जानता हूँ कि आपको अवकाश नहीं है परंतु इनके लिये आपको अवश्य फुरसत निकालनी पड़ेगी।"

पंडित प्रियानाथ ने गौड़बोले की सम्मति पर ध्यान दिया। जैसे वह धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक और ऐसे अनेक व्रतों के व्रती थे वैसे ही उन्होंने यह व्रत भी दृढ़ संकल्प के साथ ग्रहण किया। बस पहला काम यही किया कि भोला की जागीर छिन गई। उसे खाने पहनने का टोटा नहीं। काम काज के लिये भी उससे विशेष कोई कहता सुनता नहीं परंतु वह मानता है कि "मेरे दिन भर गए।" इसी चिंता से वह अब बहुत कुछ लट गया है, सूखकर काँटा हुआ जाता

है। यदि कुछ समझाया जाता है तो रो देता है और जब कभी जी में आता है तो भाग जाता है। उसे यदि कोई मनाने जाता है तो नहीं आता है किंतु जब भूख के मारे आँतें बैठने लगती हैं तब झख मारकर आ जाता है। पंडित जी यदि उसे समझाकर गौड़बोले की सेवा के लिये नियत करते हैं तो—"जिसने मेरी परसी थाली छीन ली उसकी कभी चाकरी न करूँगा। काटकर टुकड़े कर डालो तो इस डोकरे की धोती न धोऊँगा।" कहकर चुप हो जाता है और जो कहीं कांतानाथ उसे अजमेर ले जाना चाहें तो "मैं इस घर से मरा निकलूँगा जीते जी (पंडित जी के चरणों को छूकर) इन्हें कभी न छोड़ूँगा। हाँ! इनके साथ लंका जाने को भी तय्यार हूँ।" यों कहकर रो देता है। खैर! जब उसका स्वभाव ही ऐसा है, जब उसके लिये खाने पहनने की कमी नहीं है तब उसे यों ही रहने दीजिए। उसे न अब इस किस्से से मतलब है और न प्यारे पाठकों को उसका विशेष हाल जानने की आवश्यकता है।

हाँ! इस जगह इतना लिख देना चाहिए कि अब दोनों बालकों की शिक्षा दीक्षा का अच्छा प्रबंध हो गया है। जो महाशय चित्त लगाकर इस किस्से को "अथ" से लेकर "इति" तक पढ़ेंगे उन्हें यह जतलाने की आवश्यकता नहीं कि कमलानाथ और इंदिरानाथ को शिक्षा किस तरह की दी गई। "हिंदू गृहस्थ" में शिक्षा का ढाँचा उनके लिये पहले

से मौजूद था ही, उसमें पंडित पंडितायिन और गौड़बोले का अनुभव और संयुक्त कर लिया गया। आगे वे क्योंकर घर की शिक्षा से निवृत्त होकर हिंदू विश्वविद्यालय के "ग्रेज्युएट" हुए, उनका कब उपवीत, कब विवाह और कब उनके कार्य का आरंभ हुआ और वे कैसे निकले सो कहना इस किस्से का विषय नहीं। हाँ! यहाँ इतना अवश्य लिख देना चाहिए कि "सुख संपति परिवार बड़ाई, धर्म्मशील पहँ जाहिं सुहाई।" इस लोकोक्ति के अनुसार सब ठीक हो गया।

किंतु गौड़बोले के काम की यहीं इतिकर्तव्यता नहीं थी। उन्होंने पंडित जी के परामर्श से, उन्हीं के द्रव्य से और उन्हीं के निरीक्षण में एक औषधालय और एक पाठशाला खोल रक्खी है। जब ये दोनों बालक और साथियों के साथ यहीं पढ़ते हैं तब शिक्षा का क्रम तो वही होना चाहिए जो ऊपर कहा गया है। हाँ औषधालय का क्रम ऐसा है जिसमें लड़के पढ़कर, सीखकर वैद्य बनते हैं, जहाँ इलाज आयुर्वेद से और चीर फाड़ डाक्टरी के मत से होती है और जहाँ इलाज करने के लिये "सुश्रुत" में लिखे औजार बनवा लिए गए हैं और जहाँ नवीन, ताजी वनस्पतियाँ मिलने के लिये एक बाग भी लगा दिया गया है। केवल इतना ही क्यों किसी समय पूना के सुप्रसिद्ध स्वर्गवासी विद्वान् डाक्टर गर्दे महाशय ने वात, पित्त, कफ तीनों दोषों की जाँच करने के लिये थर्मामेटर का जो नमूना तय्यार किया था उसी से लाभ उठा-

कर इन्होंने नाड़ी-विज्ञान पर भी बहुत जोर दे रखा है। गौड़बोले का मत है—

"यदि समय के फेर से, राजाश्रय न मिलकर, वैद्यों की मूर्खता और सर्वसाधारण की उपेक्षा से हमारा आयुर्वेद मृत-प्राय भी हो जाय तो हो जाय किंतु जब तक हमारे ग्रंथ विद्यमान रहेंगे वह नष्ट नहीं हो सकता। किंतु भय दो बातों का है। एक नाड़ी-विज्ञान ग्रंथगम्य नहीं। पढ़ने से नहीं आ सकता। यह अनुभवगम्य है और लगभग नष्ट हो चुका है और दूसरे ओषधि का लाना, जंगल से खोदकर लाना जब गँवार भीलों के हाथ में है, अपढ़ पंसारी ही उन्हें बेचनेवाले हैं तब मुझे भय है कि कहीं उनकी पहचान ही न मारी जाय।"

बस इसी विचार से उन्होंने उक्त प्रबंध आरंभ कर दिया है। इस उपन्यास-लेखक के मनोराज्य में गौड़बोलेजी को अपने कामों में सफलता हुई और उनकी नकल भी होने लगी है। प्रिय पाठक पाठिकाओं को अधिकार है कि वे इन बातों का अनुकरण करें अथवा यों ही चुप्पी साध जायँ।

पंडित प्रियानाथ के स्नेहियों में गौड़बोले और दीनबंधु दो ही मुख्य हैं। गौड़बोले मित्र हैं और उनके आश्रित हैं, दीनबंधु उनके उपकारक और निरपेक्ष हैं। अब इतना अवश्य हो गया है कि कभी पंडितजी उनसे मिलने जाते हैं और कभी वही यहाँ आकर इनसे मिल लिया करते हैं। साल भर में जब तक दो चार बार भेंट न हो तब तक दोनों को कल नहीं।

दोनों का दोनों के यहाँ आतिथ्य भी खूब होता है किंतु "पंडित दीनबंधु के सामने लेने का कभी हरगिज भी नाम न लो।" जब उनसे इस विषय में कुछ कहा जाता है तो कानों पर हाथ लगाकर सिर झुका लेने के सिवाय, कृतज्ञता के भार से दब जाने के अतिरिक्त चुप। यदि पंडितजी चुपचाप उनके वस्त्रों में कुछ बाँध देने का प्रयत्न करते हैं अथवा बाँध ही देते हैं तो "बस क्षमा कीजिए।" कहकर वापिस कर देते हैं। उनका नियम है कि लोक-हित-कार्य्य में कभी किसी से सहायता न लेनी। जिसका उपकार बन पड़े उससे यदि किसी काम के लिये कुछ लिया जाय तो दला हो जाय। वह कहा करते हैं कि "दुनिया में ऐसे हजारों काम हैं जिनमें दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं।" बस इसी उद्देश्य से वह चुपचाप दीन दुखियों की सहायता किया करते हैं। किस तरह किया करते हैं सो यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। बस निःस्पृहता की, परोपकार की और कर्तव्यपरायणता की पंडित दीनबंधु पराकाष्ठा हैं। पंडित प्रियानाथ आजीवन उनके कनौड़े हैं और प्रियंवदा जब जब उनके दर्शन पाती है तब तब उसके हृदय में पितृभाव का संचार होकर वह गद्गद हो जाया करती है। वह चाहे संकोच से कुछ न कहे परंतु उसके नेत्र-कमलों से कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिये आँसुओं की झड़ी लग जाती है, और "बेटी रो मत। मैंने कुछ भी नहीं किया। मुझ जैसे तुच्छ कीटानुकीट से बन ही क्या सकता

है ! जो कुछ किया परमेश्वर ने किया है। वही नारियों के शील की रक्षा करनेवाला है।" कहते हुए उसके सिर पर हाथ फेरकर उसे शांत कर देते हैं।

पंडित दीनबंधु जब यहाँ आते हैं तब बच्चों के लिये कुछ अवश्य लाते हैं। वह "ना ना !" कहने पर भी उन्हें देते हैं और जो कुछ देते हैं वह उनकी परीक्षा लेकर। परीक्षा भी उनकी कड़ी है, पुस्तक-संबंधिनी नहीं, व्यावहारिक। और वह मिठाई नहीं देते, पैसा नहीं देते और कपड़े नहीं देते। अपनी यात्रा में जहाँ से उन्हें कोई ऐसी चीज मिल जाय जो "कम खर्च वाला नशीन" हो और जिससे बालकों का ज्ञान बढ़े वही उनका इनाम है। बस इस तरह उनकी आनंद से गुजरती है। हिंदी के कितने सुलेखक महाशय "डिटेक्टिव" कहानियाँ लिखने और अनुवाद करने के साथ यदि पंडित दीनबंधु जैसे सच्चे परोपकारी का किसी उपन्यास में चरित्र अंकित करें तो अधिक उपयोगी हो सकता है। लेखक की यही प्रार्थना है।

प्रकरण—६७

होली का त्योहार

पंडित प्रियानाथ जी विद्वान् थे, भगवान् के अनन्य भक्त थे, सच्चे सनातनधर्मावलंबी थे, व्यवहारकुशल थे और कुशाग्रबुद्धि भी। उनकी मानसिक शक्ति असाधारण थी और यों वह हिंदूपन का एक उत्तम नमूना थे किंतु क्या इन गुणों के साथ वह रोनी सूरत थे? यद्यपि प्रियंवदा के साथ समय समय पर थोड़ा बहुत हँसी मजाक प्रकाशित होता रहा है किंतु छासठ प्रकरण रँग डालने पर भी अब तक जब उनके विनोदीपन की बानगी नहीं दिखलाई गई तब यदि पाठक उन्हें "रोनी सूरत" समझ लें तो उनका दोष क्या?

अस्तु! यदि पंडित जी इन गुणों के साथ विनोदप्रिय न हों, स्वयं हँसना और दूसरे को हँसा देना न जानते हों और सदा ही गंभीर बने बैठे रहें तो वह "आदर्श हिंदू" काहे के? मुसलमान ताजियादारी करते हैं, ईसाइयों में भोजन के समय चार आँसू गिराना भगवान् की कृतज्ञता है किंतु हिंदुओं के यहाँ कोई त्योहार ऐसा नहीं, श्राद्ध-पक्ष तक ऐसा नहीं, जिसमें रोने की आवश्यकता हो। हिंदुओं के प्रत्येक धर्म में, संस्कार में और काम काज में आनंद है। हँसी ठट्ठा आदमी के दिमाग को शोक संताप से रहित करके आनंद में मग्न

और ताजा कर देने की मुख्य सामग्री है! जो हँसना या हँसाना नहीं जानता अथवा दिन रात की साठ घड़ियों में जो एक दो बार भी नहीं हँस लिया करता है वह सचमुच ही या तो योगी है अथवा पशु है। योगी भी राजा जनक की श्रेणी का नहीं, "गृहेषु पंचेंद्रियनिग्रहं तपः" का अनुयायी नहीं, दुनियादारी में रहकर राग द्वेष छोड़ देनेवाला, फल की आकांक्षा छोड़कर अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल कार्य साधन करते हुए उन कामों में निर्लिप्त रहनेवाला योगी नहीं—वह हिमालय-गिरि-गुफा में समाधि चढ़ाकर कंद मूल फल से अपना गुजारा कर लेनेवाला, आदमी की सूरत से घृणा करनेवाला योगी है। बस पंडित जी प्रथम श्रेणी के योगी थे। वह बूढ़ों में वृद्ध, जवानों में युवा और बालकों में बच्चे बनकर रहते थे। जिस समय उन्हें व्याख्यान देने का, साधारण बातचीत करने का अथवा यों ही खाली बैठे रहने का अवसर मिलता अथवा किसी को मन मारे देखते तो वह एक ही बात ऐसी कह डालते जिससे सबके सब खिल-खिलाकर हँस पड़ें। किंतु उनकी एक बात भी फूहड़ नहीं, अश्लील नहीं, भद्दी नहीं और मतलब से खाली नहीं, वे बहाने से बीरबल के से उपदेश देनेवालों में हैं।

एक बार किसी सुधारक अफसर ने नई टकसाल में ढलकर धोबी से ब्राह्मण बने हुए व्यक्ति को अपने दफ्तर में क्लर्की की जगह दे दी। दूसरे दिन पंडित जी घर के कपड़ों

की मोट बाँधकर नदी पर धोने के लिये पहुँचे। वहाँ जाकर वहीं भट्ठी में मैले कपड़ों को गर्म पानी में उबालना, खार या साबुन लगाकर सुखाना और तब "संचो राम ! संचो राम !!" की आवाज के साथ उन्होंने कपड़े धोना आरंभ किया। वह जानते थे कि अफसर महाशय थोड़ी देर में इधर होकर निकलनेवाले हैं। सचमुच साहब उस तरफ आए और पंडित जी की ऐसी रचना देखकर कहने लगे—

"हैं हैं !! आज यह क्या ? आज धोबी का काम क्यों ?"

"हाँ साहब ! सीखता हूँ। अब नए जमाने में नई टक-साल से जब धोबी से ब्राह्मण बनने लगे हैं तब उनका काम कौन करेगा ?"

"बेशक !" कहकर अफसर महाशय कुछ मुसकुराए, कुछ शर्माए और छड़ी उठाकर वहाँ से चल दिए। तीसरे ही दिन उन्होंने नए क्लर्क को हुक्म दे दिया—

"तुम पंद्रह रुपए महीने की क्लर्की के बदले अँगरेजी ढंग से कपड़े धोने की दूकान खोलो। उसमें तुम्हें पचास मिल जाया करेंगे।"

बस इस प्रकार का जवाब पाकर धोबीराज वहाँ से चले गए। उस दिन पीछे उनका क्या हुआ सो लिखने की आवश्यकता नहीं, और न कुछ मतलब है।

खैर ! पंडित जी जब ऐसे विनोदी थे तब उनके यहाँ होली का त्योहार न मनाया जाय तो बात ही क्या ? आज

होली है। पंडित जी का कमरा वसंती रंग के सामान से सजाया गया है। आज परदे वसंती हैं, लंप वसंती हैं, फर्श वसंती है और उनके कपड़ों के सिवाय सब कुछ वसंती है। चार पाँच बड़े बड़े थालों में तरह तरह की गुलाल भरी हुई है, अबीर रखा हुआ है, कुंकुमे धरे हैं, अनेक डालियाँ भाँति भाँति के पुष्पों से डट रही हैं, पान की, इलायची की, लवंग की, और छालियों की भरमार है। कभी डफ पर होली गाई जाती है, कभी तबला ठनकने लगता है और कभी सितार की ताना रीरी। हार्मोनियम अलग। ग्रामोफोन अलग। आज जाति पाँति का भेद भाव नहीं। छोटे बड़े का विचार नहीं। सब होली गाते हैं और पिचकारियाँ भरकर आनेवालों के कपड़े रँगते जाते हैं। जो आता है उसके गालों पर गुलाल मलकर खूब गत बनाते हैं। कभी बालकों से होली खेलते हैं और कभी बूढ़ों से। आज बालक और बूढ़े समान हैं। यदि कोई "हैं हैं!" या "नाहीं नूहीं" करता है तो उसकी खूब खबर ली जाती है। ऐसे ही एक महाशय कर्म संयोग से वहाँ आ निकले हैं। उनकी होली पर घृणा देखकर नवागत महाशय को सब लोगों ने घेर लिया है, कोई उन पर गुलाल डालने को तैयार है और कोई पिचकारी मारने को। उन्होंने इन होलियारों में से निकल भागने का भी बहुत प्रयत्न किया है किंतु लाचार। तब उन्होंने कड़ककर, आँखें निकालकर, छड़ी उठाते हुए कहा—

"खबरदार, पिचकारी का एक भी छींटा लगा तो अभी खोपड़ी फोड़ दूँगा। क्या वाहियात त्योहार है। बेहूदगी की हद हो गई। इस बेहयाई का भी कुछ ठिकाना है ?"

"नहीं साहब ! बेहूदगी नहीं। बेहयाई नहीं। ऋतुराज वसंत की लीला है। बेहयाई और बेहूदगी का बुखार निकाल देने का दिन है। भगवान् पंचशायक का केवल एक ही दिन में उभरा हुआ जोश निकालकर साल भर तक सभ्यता से रहने के लिये शुभ मुहूर्त है, देशी गँवारों की होली और विदेशी विद्वानों का 'एप्रिल फूल" है, काम-विकारों का उफान रोकने के लिये पानी के छींटे हैं।"

"कुछ भी हो। है बेशक वाहियात ! ब्राह्मण और भंगी चमार सब एकाकार ! कीचड़ और पनाले का त्योहार ! गाली गलौज का सत्कार और दुराचार में प्रवृत्त करने का साधन।"

"नहीं साहब ! वाहियात नहीं ! यह हिंदुओं का चार में से एक जातीय त्योहार है। जो लोग छुआछूत से, जाति-भेद से अथवा पंक्ति-भेद से देश का विनाश मानते हैं उनके लिये मुँहतोड़ जवाब है। यह त्योहार डंके की चोट दिखला रहा है कि हिंदुओं में सैकड़ों जातियाँ होने पर भी, आपस में खान पान का व्यवहार न होने पर भी और छुआछूत की असाधारण छीछालेदर होने पर भी सब एक हैं। धार्मिक कामों में एक हैं, सामाजिक कामों में एक हैं और इतने

एक हैं जितने इन बातों को वाहियात समझनेवाले एक नहीं। आपके एके में लखपती कंगाल को, अफसर मातहत को और बड़ा छोटे को पास बिठलाने से भी घृणा करते हैं किंतु यहाँ आज राजा रंक एक हैं।"

"अच्छा, परंतु है तो कीचड़ पनाले का ही त्योहार?"

"जिनके लिये है उनके लिये हो भी सकता है किंतु कीचड़ पनाले का शूद्रों के लिये, अंत्यजों के लिये अथवा शराबियों के लिये होगा। द्विजों के लिये, उत्तम शूद्रों के लिये अबीर है, गुलाल है, कुंकुमे हैं और रंग है। होली सबके लिये समान है, उमंग एक सी है किंतु अधिकारी-भेद से सामान जुदे जुदे हैं। आप जब दरबार में जाते हैं तब कुर्सी पाते हैं और गेंदा धोबी चौखट तक भी नहीं पहुँचने पाता।"

"और वही विद्वान् हो तो हमारे बराबर कुर्सी पावेगा।"

"हाँ होली के लिये तो ऐसा हो सकता है कि गेंदा शराब पीना छोड़ दे और कीचड़ के बदले अबीर काम में लाने लगे किंतु दरबारी कुर्सी उसे नहीं मिलनी चाहिए। आप आप ही हैं और धोबी धोबी ही है। ऐसा न हो तो आपको उसे अपनी कुर्सी देकर धोबी बनना पड़ेगा।"

"अच्छा माना मैंने कि आपकी यह दलील ठीक है परंतु वाही तबाही बकना, शिष्ट पुरुषों के सामने, स्त्री-समाज के आगे गालियाँ बकना, कबीर गाना किस काम का? यह बेहूदगी तो व्यभिचार फैलानेवाली है।"

"नहीं ! व्यभिचार को रोकनेवाली है। काम-विकारों के उफान को निकाल देने के लिये हलका सा जुलाब है, साल भर के तीन सौ पैंसठ दिन तक जो चित्त-वृत्तियाँ धर्म के बंधन से, समाज के भय से रुकी रहती हैं उन्हें एक दिन में निकालकर निर्विकार होने का साधन है। स्त्री-पुरुषों का, परस्त्री का परपुरुष के साथ कमर मिलाकर नाचने से यह हजार दर्जे अच्छा है। दोनों के उद्देश्य एक ही हैं। प्रकार में भेद है और परिणाम में भी भेद है। मनुष्य की चित्त-वृत्ति स्वभाव से इस ओर जा रही है। लगाम ढीली छोड़ देने से घोड़ा अवश्य सरपट दौड़ते दौड़ते सवार को गिरा देगा। बस लगाम कसकर उसे खूब दौड़ा लीजिए ताकि आप गिरें नहीं। किंतु जब आप उसे स्थान में ला बाँधें तब दुलत्तियाँ झाड़ने के लिये उसे आजाद कर दीजिए।"

"अच्छा यह भी मान लिया परंतु आप जैसे विद्वानों के यहाँ रंडी का नाच। बस ! पंडित होकर आज तो आपने कमाल ही कर डाला। अब दुनिया में इससे बढ़कर बुराई ही कौन सी है जिसे आप छोड़ेंगे। रंडी सब बुराइयों की जड़ है। जुआ, शराब, पाप सब इसके गुलाम हैं।"

"जैसा साज है वैसा सामान है।" "जस काछिय तस नाचिय नाचा।"

"तब, आपने मंजूर कर लिया कि रंडीबाजी करने में कोई दोष नहीं है। ऐसी दशा में आप अपने यहाँ इस बात का भी एक स्कूल खोल दीजिए।"

"नहीं! आप मेरा मतलब समझे नहीं। बेशक रंडियाँ समाज में एक बला हैं। तब ही शिष्ट पुरुषों ने इनकी निंदा की है। वेश्यागमन करनेवाले को राजदंड मिलता है, वह समाजच्युत किया जाता है और सबसे बढ़कर यह कि वह लोगों की आँखों से गिर जाता है। परंतु इससे आप यह न समझ लीजिए कि ये समाज से निकाल देने के लायक हैं, फिजूल हैं और इन्हें बंद कर देना चाहिए। नहीं! इनकी भी समाज के लिये दो कारणों से आवश्यकता है। एक यह कि जब गाने बजाने और नाचने का पेशा करनेवाली हमारी सोसाइटी में न रहेंगी तब कुल-वधुएँ इस काम को ग्रहण करेंगी। मैसूर और मदरास प्रांत में जहाँ रंडी का नाच बंद कर दिया गया है वहाँ भले घर की बहू बेटियों को नाचना गाना सिखाने के लिये स्कूल खोलने का अवसर आया है। नृत्य और गायन पर मनुष्य की स्वभाव से प्रवृत्ति है। उसको पूरा करने के लिये दोनों मार्ग खुले हुए हैं। आप यदि रंडी का नाच बंद करेंगे तो एक दिन आपको बहू बेटियाँ अवश्य नचानी पड़ेंगी।"

"परंतु महाराज! रंडियाँ तो देश में व्यभिचार फैला रही हैं, लड़कों को बिगाड़ रही हैं।"

"बेशक बिगाड़ रही हैं और जहाँ तक बन सके समाज से भय दिलाकर ऐसा कुकर्म बंद करना चाहिए परंतु समष्टि रूप से समाज पर दृष्टि डालिए तो इस काम के लिये भी

इनकी आवश्यकता है। जिस समाज में वेश्याएँ न हों उसके सौ गृहस्थ लेकर उनमें व्यभिचार कितना होता है, इसकी गणना कीजिए और तब हिंदू समाज के सौ गृहस्थों से तुलना कीजिए तब आपको मालूम हो जायगा कि वेश्याएँ किस सिद्धांत पर सिरजी गई हैं। इस तरह वे अवश्य अपना आपा बिगाड़ रही हैं, अपना सर्वस्व नष्ट कर रही हैं किंतु हिंदू-नारियों के सतीत्व की रक्षा करती हैं। जैसे बड़े नगरों में सड़क के निकट जगह जगह पनाले बने हुए हैं, यदि वे न बनाए जायँ तो चित्तवृत्ति को, शरीर के विकार को न रोक सकने पर लोग बाजार और गलियों को खराब कर डालें उसी तरह यदि वेश्याएँ हमारे समाज से उठा दी जायँ तो घर की बहू बेटियाँ बिगड़ेंगी।"

"हाँ! यह ठीक है परंतु आपकी दोनों रायें परस्पर विरुद्ध हैं। इधर आप रंडियाँ रखना भी चाहते हैं और उधर रंडोबाजी बंद भी करवाते हैं। "दोउ एक संग न होइ भुवालू; हँसब ठठाइ फुलाउब गालू।" दोनों बातें कैसे निबहेंगी।"

"क्यों नहीं? बराबर निभ सकती हैं। समाजच्युत होने का भय, सदाचार की शिक्षा और वेश्यागमन की ओर, परस्त्री-गमन की ओर प्रवृत्ति न होने पावे. ऐसे बंधन बस तीनों का निर्वाह होना चाहिए। यदि इन बातों पर ध्यान रहे तो कभी कोई नर नारी बुराई की ओर नहीं झुक सकते।"

"बेशक ब्रह्मचर्य बहुत ही बढ़कर है।"

"हाँ ! परंतु आप लोगों की राय का ब्रह्मचर्य्य नहीं। बीस पचीस वर्ष तक कुँआरा कुंवारी रखकर शिकार खेलने की आज़ादी नहीं। क्या स्त्री और क्या पुरुष, दोनों को कुसंगति से बचाकर सुसंगति में प्रवृत्त करना तो मुख्य है परंतु शरीर-संगठन देखकर रजोदर्शन के काल से कुछ ही पहले विवाह, शरीर ही की स्थिति देखकर विवाह से प्रथम, तृतीय अथवा हद पंचम वर्ष में गौना, केवल ऋतुकाल में गमन, पातिव्रत तथा एकपत्नीव्रत, यही हमारा शास्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्य्य है। लड़की से ड्योढ़ी लड़के की उमर, पुरुष का तीस पैंतीस वर्ष के बाद विवाह नहीं।"

"आपकी सब बातें यथार्थ हैं। बेशक होना भी ऐसा चाहिए। परंतु जैसे आपने होली को हमारा जातीय त्योहार साबित किया उसी तरह सलोनो, दशहरा और दिवाली की भी तो व्याख्या कीजिए।"

"होली की विशेष व्याख्या "होली के रहस्य" में प्रकाशित हुई है। और त्योहारों की व्याख्या का आज समय नहीं। आज समय है हँसी खुशी मनाने का।" बस इतना कहकर पंडितजी ने ज्योंही नवागत महाशय के गालों पर गुलाल मली किसी की पिचकारी, किसी का कुमकुमा और किसी के मुट्ठी भर गुलाल ने उनको व्याकुल कर दिया। "बस बस ! बहुत हुआ। मुआफ करो !" कहते हुए उन्होंने डफ उठाया और उसे बजाकर जब वह सूरदासजी के पद गाने लगे तो एकदम सन्नाटा छा गया।

गाने बजाने के अनंतर जलसा खतम हुआ। फिर समय पाकर पंडित जी ने उस व्यक्ति को समझा दिया कि अनादि काल से जैसे हिंदुओं की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, यों चार जातियाँ हैं वैसे ही सलोनो, दशहरा, दिवाली और होली चार वर्णों के चारों त्योहार हैं। सलोनो का उपाकर्म ब्राह्मणों का, दशहरे को विजय-यात्रा क्षत्रियों का, दिवाली को लक्ष्मी का पूजन वैश्यों का और होली की धूमधाम शूद्रों का, यों चारों वर्णों के चार त्योहार हैं किंतु हैं चारों चारों ही के। ये ही हमारे जातीय त्योहार हैं। उत्साह ही जाति का जीवन है और ये त्योहार हमारा उत्साह जागृत रखने के मुख्य साधन हैं। पर साथ ही यह भी आवश्यक है कि इन त्योहारों में जो अनुचित बातें आ गई हैं उनका सुधार होना चाहिए, उन्हें एकदम उठा देना ठीक नहीं।

प्रकरण—६८

कुलटा का पछतावा

"बेशक कुसूर मेरा ही है। मैंने जैसा किया वैसा पाया। मैं अगर अपने व्रत पर दृढ़ रहती, सुखदा को बिगाड़ने की कोशिश न करती तो कोढ़ चूने का यह समय क्यों आता? मैं बड़ी पापिनी हूँ। तब ही कोढ़ से गल गलकर मेरी अँगुलियाँ गिर गई हैं, नाक बैठ गई है, पीप बह रहा है, चिउँटियाँ काटती हैं, मक्खियाँ दम तक नहीं लेने देतीं। हाय! मैं क्या करूँ? इस जीने से तो मर जाना बेहतर है। अगर कहीं से एक पैसा मिल जाय तो अफीम खाकर सो रहूँ! पर पैसा आवे कहाँ से? जब पेट की ज्वाला ही पंडित जी के टुकड़ों से ठंढी होती है और जब शरीर ही उनके कपड़ों से ढँकता है तब जहर खाने को पैसा कहाँ? खैर! दुख पाकर मरूँगी। अपनी करनी का दंड पाकर मरूँगी। पर हाय! उस महात्मा के उपदेश पर कान न देने ही का यह नतीजा है। अगर मैं उस समय भी सँभल जाती, फिर कोई कुकर्म न करती तो अवश्य मेरी ऐसी दुर्दशा न होती। खैर! अब पछताने से क्या? जल्दी मर जाने ही से क्या होगा? पापों का दंड यहाँ भी भोगना है और यमराज के यहाँ जाकर भी। बस जीना

मरना बराबर है। पर हाय! अब भी तो मेरे फूटे मुँह से भगवान् का नाम नहीं निकलता। अब भी, इतने कष्ट पाकर भी बुरी बुरी बातों की ओर चित्त दौड़ता है। अब अगर वे महात्मा जी एक बार फिर दर्शन दें तो कुछ उपदेश मिल सकता है। हाय! मैं बहुत दुःखी हूँ। रामजी मुझे मौत दें। अब सहा नहीं जाता। हाय मरी! कोई बचाओ!" कहती हुई मथुरा ज्यों ही मूर्च्छित होकर जमीन पर गिरने लगी एक व्यक्ति ने उसे सँभाला, गिरते से बचाकर धरती पर बिठलाया, आँखों पर जल छिड़ककर उसे सचेत किया और तब उससे पूछा—

"महात्मा कौन?"

"हाँ! आपने सुन लिया? (देखकर, अच्छी तरह निहार लेने के अनंतर पहचानकर) आप बिना मेरे प्राण बचानेवाला कौन? सचमुच आपने बड़ा उपकार किया है। मेरे अपकार के बदले उपकार? आप बड़े महात्मा हैं। मैंने आप जैसे सज्जन को सताया है। महाराज मुआफ करो।"

"हैं! मुझे सताया है? कब? मुझे याद भी नहीं?"

"बेशक आपको याद न होगी! सज्जन दूसरों का उपकार करके याद नहीं रखा करते हैं परंतु मेरे लिये तो कल की सी बात है। मेरे हिए में होली सी जल रही है।"

"कहना चाहती है तो कह क्यों नहीं देती? और न कहना चाहे मत कह। मुझे सुनने की परवाह नहीं, आवश्यकता

नहीं। मुझे केवल इतना ही पूछना था कि महात्मा कौन थे? जरा पता लगाकर तो देखूँ कि कौन थे? शायद वहो हों?"

"हाँ वही थे वही, जिनके लिये आपको संदेह है।"

"मेरा संदेह तुझे क्योंकर मालूम हुआ?"

"मैं सुन चुकी हूँ कि काशी में आपको पंडित वृंदावन-विहारी और उनके गुरु के दर्शन हुए थे। उन्हीं महात्मा से वृंदावन महाराज ने शूकरक्षेत्र (सोरों) में जाकर उपदेश लिया था। पहले पहले वह गृहस्थाश्रम में रहकर कुछ साधना करते रहे फिर घरवालों से दुःख पाकर उन्होंने दुनिया छोड़ दी। पंडित वृंदावनविहारी जब सोरों गए तो रास्ते में मैं भी उनके साथ हो गई थी। वहीं उन महात्मा जी ने मुझे उपदेश दिया था लेकिन ऊसर धरती की तरह उनका बीज यों ही चला गया।"

"भला, परंतु वह महात्मा थे कौन?"

"आपके पिता के, नहीं आपके गुरु महाराज! मैंने आपको बहुत कष्ट पहुँचाया है। मैं अब अपने किए पर बहुत पछताती हूँ। आप मेरे अपराधों को क्षमा कर दें तो मेरा छुट-कारा हो जाय।"

"अच्छा क्षमा किया" कहकर पंडित प्रियानाथ वहाँ से चल दिए। इसके अनंतर उसकी क्या दशा हुई सो बावनवें प्रकरण में लिखी हुई है। पंडित जी ने सारा किस्सा "अथ"

से "इति" तक पंडितायिन को सुनाया। इस घटना को सुन-कर मथुरा के विषय में जो भाव उसके अंत:करण में पैदा हुए उनके लिये कागज रँगने की आवश्यकता नहीं। हाँ! वरुणा गुफा के महात्मा को अपने पिता जानकर वह उदास भी हुई और प्रसन्न भी हुई। उदास इसलिये कि वहाँ उन्हें न पहचाना और राजी इसलिये कि उसके पिता इतने पहुँचे हुए महात्मा निकले।

प्रकरण—६६

प्यारा सिंगारदान

"पंडित जी! पंडित जी होत! अरे पंडित जी! यहाँ कोई है भी? किवाड़ा खोलो! किवाड़ा! वाह खूब आदमी हैं! भीतर सुरबुर सुरबुर बातें करते हैं मगर किवाड़ा नहीं खोलते। (किवाड़े में लात मारकर) ये साले टूटते भी तो नहीं हैं।" एक, दो, तीन, चार लातें मारीं और खूब जोर जोर से मारीं परंतु किवाड़े खुले नहीं। आनेवाले ने दो चार गालियाँ भी सुनाईं परंतु जवाब नहीं मिला। "खोलूँ कैसे? अनजान आदमी है। उसके सामने जाने में लाज आती है। सरकार का प्राणायाम चढ़ रहा है। अभी उतरने में दस मिनट चाहिएँ। निपूते भोला का कहीं पता नहीं। मुआ पड़ा होगा कहीं चंडूखाने में। रामप्यारी और राधा दोनों ही गायब हैं। अब खुलवाऊँ भी तो किससे? अरे नन्हा जाकर तूही कुंडी खोल आ!" कहकर प्रियंवदा ने बच्चों को समझाया परंतु उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया। यदि जोर से कहकर समझाती है तो ध्यान छूटता है और धमकाती है तो दोनों लड़के रो रोकर घर भर डालेंगे। बस सुरबुराहट इसी बात की थी। अंत में हारकर खिड़की में से देवरानी की ओर उसने इशारा किया और वहाँ से कांतानाथ ने आकर

किवाड़ खोले। "क्या मेंह बरसता था अथवा डाका पड़ गया जो चिल्ला चिल्लाकर कान की चैलियाँ उड़ा डालीं। खोपड़ी खा डाली।" कहते हुए छोटे भैया ने आगंतुक को कुछ डाँटा और "लीजिए साहब! सँभालिए साहब! लाइए रसीद और इनाम!" कहकर उसने एक ट्रंक उनके आगे रख दिया। "हैं ट्रंक? यह ट्रंक कैसा? हमारा नहीं है। देखूँ नाम? हैं! नाम तो भाई साहब का है!" यों कहकर कांतानाथ ने उसे सँभालने में कुछ आनाकानी की, तब पर्दे की ओट में भौजाई से इशारा पाकर उसे रख लिया और चपरासी को इनाम देकर बिदा किया।

उसके चले जाने के बाद ऊपर ले जाकर ट्रंक खोला गया। देवर भौजाई ने मिलकर उसका एक एक करके सामान सँभाला तो सूची के अनुसार पूरा निकला। बस उधर जरूरी काम के लिये कांतानाथ चल दिए और इधर प्रियानाथ का आह्निक समाप्त हुआ। आसन पर से उठकर पति-राम यहाँ आए और तब कुछ मुसकुराकर कहने लगे—

"आपका सामान सब आ गया? राई रत्ती पूरा? काजल टिकुली दुरुस्त?"

"जी हाँ दुरुस्त। आज मानों लाख रुपए पा लिए।"

"अच्छा पा लिए तो मुबारिक हो!"

"हाँ मुबारिक हो! आपको मुबारिक हो क्योंकि इसमें सामान भी तो आपका है।"

"क्या काजल, टिकुली, सिंदूर और रोरी मैं लगाऊँगा ?"

"नहीं आप नहीं ! मैं ! मेरे लिये सौभाग्य-द्रव्य है और आपकी बदौलत है ।"

"अच्छी बात है ।"

"हाँ बात तो अच्छी ही है परंतु कई वर्षों में क्यों आया?"

"इसलिये नहीं आया कि तुझे गंगातट पर जब लठैतों ने पकड़ा तब तू चिल्लाई नहीं ! तू चिल्लाती तो शायद कोई मदद को भी आ पहुँचता ।"

"हैं ! तो आपकी अदालत ने मुझसे सफाई के जवाब लिए बिना ही सजा दे दी ?"

"नहीं ! हमारी अदालत ने नहीं दी । संयोग की अदालत ने दी ।"

"ठीक । तो इस मुए संयोग ने ही मेरी जबान बंद कर दी । न वे क्लोरोफार्म सुँघाते और न मैं बेहोश होती ।"

"ठीक है ! मुनासिब है ।"

"हाँ मुनासिब तो है परंतु इस ट्रंक के आने में इतनी देरी क्यों हुई ? मथुरा स्टेशन पर पुलिस पर आपका प्रभाव पड़ता देखकर तो मैंने समझा था कि पाँच सात दिनों में आ जायगा । उस समय जब आपने पुलिस को इतना दबदबा दिखलाया था तो फिर भीड़ में से निकलने के लिये उससे मदद क्यों न ली ? यह तो मैं तब पूछना ही भूल गई थी ।"

"यदि हुजूर तब पूछना भूल गई थीं तो अब सही। अब पूछ लीजिए। दबदबा उसी पर चला करता है जो दबता दबाता है। दबदबा चले तो घर की जोरू पर चले, जिसका भी अब जमाना नहीं रहा। अब जोरू खसम और (विनोद से) खसम जोरू। तैने ही एक बार जोरू बनकर उमर भर के लिये मुझे जोरू बना लिया।"

"जन्म भर के लिये ही नहीं! जन्मजन्मांतरों तक, भगवान् सदा ही मुझे आपकी दासी बनाए रखें। मैं जोरू और आप खसम! अथवा कभी पलटा खा जाय तो आप जोरू और मैं खसम! अथवा पारी पारी से।"

"जैसी सरकार की मर्जी! राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है, याँ यों भी वाह वा है तो यों भी वाह वा है।"

"और क्या यों नहीं—"है इत लाल कपोत व्रत, कठिन नेह की चाल, मुख सों आह न भाखियो निज सुख करो हलाल।" और वह नेह भी बनावटी नहीं। बनावटी नेह में तुरंत ही "चीनी में बाल" आ जाया करता है। दंपती का नेह अलौकिक होता है। यदि उसमें ईश्वर की सत्ता न हो तो प्राणनाथ की चिता में अपने प्यारे प्राण कौन होम दे। संसार में सबसे बढ़कर प्यारा प्राण होता है किंतु हिंदू नारी के लिये प्राणों से भी प्यारा प्राणप्यारा है।"

"हाँ बेशक!"

"हाँ बेशक नहीं मेरे प्रश्नों का उत्तर दीजिए।"

"हाँ सरकार लीजिए। उत्तर लीजिए और जो चाहे सो लीजिए। सब कुछ हाजिर है। अच्छा सुनिए। दबदबा जमाया नहीं था स्वभाव से उस पर पड़ गया हो तो जुदी बात है। और यदि पड़ा भी तो मेरे नाम का कार्ड पढ़कर डाक के सुपरिंटेंडेंट का ओहदा जानने से। बस ओहदा गया और दबदबा भी साथ ही चला गया। और पुलिस से मदद न लेने का कारण तू जानती है। बस रेल की यात्रा का अनुभव।"

"खैर! यह तो हुआ परंतु ट्रंक देरी से क्यों आया?"

"अरे इतनी चटपटी! इतनी घबड़ाहट!! इस ट्रंक पर इतना प्रेम!!!"

"प्रेम न हो? इसमें प्राणप्यारे की यादगार है। पहले दिन की बखशिश है!"

"अब तो (हँसकर) बड़ी बड़ी बखशिशें मिल गईं!"

"हाँ! मिल तो गईं परंतु इस सिंगारदान का आनंद इसी में है। यह दांपत्य प्रेम के साहित्य-शास्त्र का प्रथम पाठ है। इसमें ऐसी सामर्थ्य है कि यह उस दिन का फोटो खड़ा कर देता है।"

"अच्छा तो देरी से आने का कारण यह हुआ कि अदालत में पहुँचने पर इसका एक और दावादार खड़ा हो गया था। इसके लिये वकील करने पड़े, गवाह और सुबूत पेश करने पड़े यहाँ तक कि जो जो चीजें इसमें थीं उनके खरीदने तक का सुबूत देना पड़ा।"

"ओहो ! तब इसके लिये आपको बहुत परिश्रम करना पड़ा, बहुत खर्च करना पड़ा। तब इससे, विशेषकर इस (खोलकर दिखाती हुई) सिंगारदान से और भी प्रेम बढ़ गया।"

"प्रेम बढ़ते बढ़ते कहीं यहाँ तक न बढ़ जावे कि मेरा प्रतिद्वंद्वी खड़ा हो जाय, हिस्सेदार खड़ा हो जाय।"

"जाओ जी (लजाकर) ऐसी बातें न करो। हिस्सेदार बन जाय तो मुए को अभी तोड़ मरोड़कर फेंक दूँ।"

"नहीं नहीं! सरकार नाराज न हूजिए। कुसूर इसका नहीं, मेरा है। जो सजा देनी हो मुझे दीजिए। ताबेदार हाजिर है।"

"आपको ! (शर्माकर) आपको सजा ! आपको सजा यही है कि कृष्णचरित्र का कुछ रहस्य समझाइए। आपने (चौदहवें प्रकरण में) पहले एक बार, शायद मथुरा में, वादा भी किया था।"

"हाँ ! उस समय बहुत हिस्सा समझाया था और अध्यात्म सुनाने का वादा भी किया था। जो जो बातें उस समय कही थीं वे तुझे भली प्रकार याद होंगी। उन्हें दुहराने की आवश्यकता नहीं। अध्यात्म का नमूना श्रीमद्भागवत के "पुरंजनोपाख्यान" में है। उसमें जैसे सारा किस्सा शरीर पर घटाया गया है वैसे ही विद्वान् सारे ही कृष्णचरित्र को, रामचरित्र को मनुष्य के शरीर पर घटाते हैं। एक महात्मा ने "तुलसीकृत रामायण" की सारी कथा आदमी के

शरीर पर घटा दी है। "प्रबोधचंद्रोदय" भी इसका नमूना है और "महामोहविद्रावण" भी।"

"अच्छा तो थोड़ा सा और स्पष्ट कर दीजिए ताकि इन पुस्तकों से टटोलने में सुगमता रहे।"

"आनंद तो उन ग्रंथों को पढ़ने ही से आवेगा, और उनके बताए रास्ते पर चलने से समझ में भी ठीक आ सकता है। हाँ थोड़े में यह है कि उनमें अहंकार रावण और काम क्रोधादिक उसके राक्षस हैं और जीवात्मा हैं भगवान् रामचंद्र। बस उन्होंने सद्गुणों की सेना की सहायता से अहंकारादि को विजय किया है।"

"तब क्यों जी! क्या भागवत और रामायण की कथा मिथ्या है? जब ऐसा ऐसा अध्यात्म ही भरा है तब उसे व्यास जी और वाल्मीकि जी की कल्पना समझना चाहिए।"

"नहीं! ऐसा कदापि नहीं! अध्यात्म भी सत्य है और कथा भी सत्य है। जैसा अधिकारी उसके लिये वैसा ही मसाला है। "पुरंजनोपाख्यान" लिखकर व्यास जी ने पंडितों को केवल नमूना दिखला दिया है, इसलिये कि पंडित यदि थोड़ी सी मेहनत करें तो सारे भागवत का रहस्य समझ सकते हैं।"

"अच्छा तो अब मैं समझ गई। परंतु मुझे तो आपका अध्यात्म कुछ नीरस सा जान पड़ा।"

"बेशक नीरस सा ही है। छहों रसों को गड्डमड्ड करके खा जानेवाला जो महात्मा वेदांती और संसारत्यागी विद्वान् है उसके लिये भले ही सरस हो किंतु हम भक्त जनों के लिये नीरस !"

"हाँ सत्य है। सचमुच सरस तो हरिकथा है।"

"बेशक !"

जिस समय दंपती की इस तरह बातें हो रही थीं कमला और इंदिरा, दोनों ही पास बैठे बैठे खेल रहे थे। कभी अपना खेल बंद करके दंपती की विनोद भरी बातें खूब ध्यान से सुनते, कभी इन्हें मुसकुराते हुए देखकर खूब खिलखिला-कर हँसते और कभी उस सिंगारदान पर अपना अपना दावा कायम करके "य मेरा !" "य मेरा !" कहकर आपस में झगड़ते, नोचते और गुत्थमगुत्था हो जाते थे। इस खैंचतान में काजल की डिबिया खुल जाने से दोनों के हाथ काले हो गए, दोनों ने अपने मुँह पर सिंदूर पोत डाला और टिकुलियों की डिबिया खुलकर वे सब बिखर गईं। बस अब आपस में आईने पर झगड़ा हुआ। एक ने दूसरे के हाथ से छीन लिया और दूसरा पहले के हाथ से छीनकर ले भागा। इस पर एक रो रोकर खूब चिल्लपों मचाने लगा। दंपती अपने ध्यान में ऐसे मस्त थे कि बालकों की हरकत पर न तो उनकी नजर गई और न कान। अंत में पंडित जी ने कमलानाथ

को आईना उठाकर भागते और इंदिरानाथ को रोते देखा। तब वह हँसकर कहने लगे—

"लो आपकी बखशिश की क्या गत बन गई।"

"क्या चिंता है? भगवान् बखशिशें देनेवाले को सलामत रखे। ऐसी ऐसी कई बखशिशें आ जायँगी।"

इस तरह विनोद की बातें करते करते प्रियंवदा ने अपनी चीजें सम्हालीं और लड़कों को फुसलाया।

प्रकरण—७०

उपसंहार

जब से "राधानाथ रमानाथ" के नाम से अजमेर में दूकान खुली पंडित जी का आधा समय वहाँ और आधा यहाँ बीतता है। घर में दो तीन सवारियाँ मौजूद हैं। नौकरी को वह तिलांजलि दे ही चुके। बस जब जी में आया घर और जब इच्छा हुई अजमेर। यहाँ जमींदारी को सँभालना, गोशाला की देखभाल, कपड़े, लोई और फेल्ट के कारखाने का निरीक्षण और खेती के कामों पर नजर और वहाँ दूकान की सँभाल। "आई थी मैं हरि भजन, ओटन लगी कपास।" उन्होंने शायद "डाक विभाग और कोर्ट आफ् वार्ड्स" की नौकरियाँ इसलिये छोड़ दी थीं कि उन्हें भगवदाराधन के लिये भर पेट समय मिलेगा परंतु जो कर्तव्य का दास है अथवा जो अपना जीवन ही काम करने के लिये मानता है उसे अवकाश कहाँ? "अवकाश" पंडित जी के कोश में नहीं। काम की भरमार होने पर भी वह जब काम समय के विभाग करके करते हैं तब उनके घबड़ाने का वास्ता क्या? इतना परिश्रम, ऐसी ऐसी झंझटें होने पर भी वह भगवदाराधन में, ब्राह्मणोचित कर्म करने में और शास्त्रचर्चा में मस्त रहते हैं। उनका वही आह्निक, उनका वही भगवद्भक्ति में आत्मविसर्जन, तल्लीनता

घटी नहीं है। घटने के बदले बढ़े तो जुदी बात है। पंडित जी जितना परिश्रम करते हैं उतना, उनसे भी अधिक कांतानाथ करते हैं। काम काज का सारा बोझा उसी के सिर है। "स्याह और सफेद" जो कुछ करे उसे अधिकार है। सब काम करनेवाला वह और निरीक्षक पंडित जी। गलतियों को सुधरवाना, काम को दृढ़ पाए पर डालना, नई नई बातें सुझाना समझाना और काम में परिणत करना उनका काम और उनकी आज्ञा के अनुसार बर्तना छोटे भैया का। यदि कांतानाथ के हाथ से कुछ गलती हो जावे तो वह उसे फटकारते नहीं हैं, उस समय उससे कुछ कहते तक नहीं हैं, और जब वह स्वयं रिपोर्ट करे तब—"होगा जी! काम करनेवाले के हाथ से चूक भी होती ही आई है।" कहकर उसको संतुष्ट कर देते हैं और फिर अवसर निकालकर समझाते हैं। बस वह भी इनका "हुकमी बंदा" है। परिणाम यह कि दोनों भाइयों का प्रेम राम भरत के अलौकिक प्रेम की याद दिलाता है।

इस तरह जब पंडित बंधुओं का परस्पर असाधारण प्रेम है तब दोनों देवरानी जिठानी सगी माँ-जाई बहनों की तरह मिलकर रहती हैं। अक्सर देवरानी जिठानी में, सास बहू में ननद भौजाई में, मा बेटी में और बहन बहन में परस्पर लड़ाई होती देखी है। यदि स्वार्थ के विरोध में झगड़ा हो तो जुदी बात है किंतु नहीं—अविद्या से, बिना बात ही, हलकी हलकी बातों पर आपस में लड़कर वे एक दूसरी की जानी दुश्मन बन

जाती हैं। और हिंदुओं का यही कौटुंबिक कलह हिंदू समाज की दृढ़ भित्ति को कुदालें मार मारकर ढाह रहा है किंतु अब पंडित बंधुओं के संयुक्त कुटुंब में कलह कसम खाने के लिये भी नहीं। रमणी जाति में परस्पर की कलह होने के जो कारण हैं वे जब इनके घर में प्रवेश तक नहीं कर सकते तब कलह हो भी तो क्यों हो? दोनों नारियाँ पति-सेवा में दत्तचित्त हैं। स्वप्न में भी पति की आज्ञा का, उनकी इच्छा का उल्लंघन करना वे जब घोर पाप समझती हैं तब उनके घर में अवश्य ही आनंद विराजमान है। सचमुच ही प्रियंवदा और अब उसकी शिक्षा से, उसकी देखा देखी सुखदा भी आदर्श बन गई है। भगवान् ने जैसी नीयत दी है वैसी बरकत भी दी है। इनके घर का हर एक काम धर्म के अनुकूल होता है। धर्म-विरुद्ध लाख रुपया भी इनके लिये विष है, बुरी चीज है, स्पर्श करने योग्य नहीं। जिनका सिद्धांत ही यह है—

"दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
शास्त्रपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत्॥"

फिर इनके घर में सुख का निवास क्यों न हो? ईश-कृपा से इस समय सफलता इनकी चेरी और सुख इनका दास है। सुख की शोभा भी इसी में है कि वह ऐसे धर्मशील की चरण-सेवा में प्रवृत्त हो। केवल कल्पना के मनोराज्य में आना पाई से हिसाब देने की अथवा "हाथी के दाँत दिखाने के और और खाने के और" की तरह झूठ मूठ रिपोर्ट प्रकाशित करने

की इन्हें आवश्यकता नहीं। अतिथिसत्कार के लिये, साधु महात्माओं की सेवा करने के लिये जैसे इनका दरबार खुला हुआ है वैसे इनके अनेक लोकहित के कामों को, व्यापार धंधों को देखने का जनसाधारण को अधिकार है। जिस किसी की इच्छा हो इनके यहाँ आकर बारीकी से इनका काम देख सकता है और इनके अनुभव से लाभ उठा सकता है अथवा इनके कामों की नकल कर सकता है। यों इनके यहाँ दोनों बातों में छूट है। रोक टोक का नाम नहीं। देशी कारीगरी और देशी व्यापार की उन्नति के लिये इनकी राय यह है—

"सचाई का बर्ताव होना चाहिए। झूठ बोलकर अनाप सनाप नफा लेने से कम नफे में एक ही भाव पर चीज बेचना जितना आवश्यक है उतना और कुछ नहीं। केवल लेकचर-बाजी से काम नहीं चलेगा। जो कुछ करना हो उसे करके दिखला देना चाहिए। मैं उसे बहुत ही नीच समझता हूँ जो व्याख्यान देकर गला फाड़ने में बहादुर है, जो औरों के विलायती कपड़े उतरवाकर जला देने में शूर है किंतु स्वयं बर्ताव के नाम पर बिंदी। औरों को भड़काकर उपद्रव खड़ा करना और यों हाकिमों को नाराज करना अच्छा नहीं। जो शांति-पूर्वक दृढ़प्रतिज्ञ होकर काम करनेवाला है उसका अनायास अनुकरण होने लगता है। बस खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है। यही देश की उन्नति का मूल सूत्र है। कानफरेंसों की धूम, लेक्चरों का गर्जन और आडंबर का ठाठ

करके यदि अब तक इतना रुपया, समय और बुद्धि नष्ट न की जाती अथवा अब भी न की जाय तो देश का सौभाग्य है।"

अतिथि-सेवा के लिये भी यह घर आदर्श है, सरनाम है और असाधारण है। "श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां, स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः। यस्यार्थिनो वा शरणागता वा नाशाविभंगा विमुखाः प्रयांति।" का आप उदाहरण हैं। अतिथिसत्कार के लिये यदि परिश्रम उठाना पड़े, हानि भी क्यों न हो और द्रव्य चाहे जितना खर्च हो जाय यह मुख नहीं मोड़ते हैं। भूले भटके साधु गृहस्थों को सुपथ पर लगाना और ऐसे अच्छे अच्छे नमूने पैदा करना इनका काम है।

सनातनधर्म की उन्नति और सामाजिक दुर्दशा का सुधार करने के विषय में इनके जो ख्याल हैं वे इस उपन्यास में समय समय पर, स्थान स्थान में कार्य रूप पर व्यक्त किए गए हैं। आवश्यक आवश्यक विषयों में से शायद निकलें तो ऐसे विरले ही निकल सकते हैं जिनके लिये इन्होंने कुछ नहीं किया अथवा कहा न हो। हाँ! समष्टि रूप पर इनकी राय यह है—

"हिंदू-धर्म, हिंदू-समाज संसार के यावत् धर्मों का मूल है। दुनिया में जितने धर्म हैं उन सबके सबही अच्छे सिद्धांत, मूल तत्त्व इसमें पहले से विद्यमान हैं। केवल देखनेवाला चाहिए। "कौवा कान ले गया" की कहावत की तरह कौवे के पीछे मत दौड़ो। पहले अपना कान सँभाल लो। तुम्हारे

यहाँ सब कुछ है और जो कुछ है वह लाखों वर्षों के अनुभव से अनुकूल सिद्ध हो चुका है। परायों की नकल करके अपने ही हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के बदले प्राचीनों के सुमार्ग पर चलने ही में तुम्हारा कल्याण है। जहाँ कहीं थोड़ा बहुत अंतर पड़कर समय के प्रतिकूल दिखलाई दे वहाँ शास्त्र के अनुसार, वृद्धों की सम्मति से ठीक कर लो। परायों की नकल करना अच्छा नहीं है। अन्य देशों की सभ्यता में जो जो तुम्हें चमकदार दिखलाई देता है बस सबको ही सोना समझना तुम्हारी भूल है। परदेशियों के ऐसे सद्‌गुणों की नकल करो जिनमें तुम्हारे भारतवासीपन पर, हिंदूपन पर आघात न पहुँचे। पुराने और नए ख्यालों की दलादली कदापि न बढ़ने दो। जिन बातों के विषय में पुराने और नए का मत-भेद हो उन्हें मत छेड़ो। उनके लिये पहले शास्त्रों का मनन करो किंतु जो निर्विवाद हों उनमें एकमत होना, परस्पर के मत-भेद को निकालकर पुराने और नए समाज यदि एक सूत्र में बँध जायँ, अनेक जातीय सभाएँ स्वतंत्र रूप से चलने पर भी उनका केंद्र एक हो जाय और एक ही उद्देश्य को लेकर वे सब कार्य करें तो उन्नति सहज में हो सकती है। धर्मसभा और आर्यसमाज, सुधारक और उद्धारक का अधिक समय आपस के लड़ाई झगड़ों में, एक दूसरे को नीचा दिखाने में जाता है। ब्रिटिश साम्राज्य की छत्र-छाया में, उन्नति के सुअवसर पर एकता बढ़ने के बदले फूट फैलती

है। और इस समय की इतिहासप्रसिद्ध शांति का दुरुपयोग होता है, उस पर कुठाराघात है।"

राजनैतिक कामों के विषय में वह प्रायः उदासीन से हैं। उनका मत है कि "जब इस विषय का आंदोलन करने में सैकड़ों बड़े बड़े आदमी दत्तचित्त हैं तब मैं अपना सिर क्यों खपाऊँ ?" किंतु जब उनसे इस विषय में कोई कुछ जिक्र छेड़ देता है तब वह कहा करते हैं—

"जिन बातों को देने का सरकार ने वादा कर लिया है अथवा आप जिन पर अपना स्वत्व समझते हैं उन्हें सरकार से माँगें। जब माता पिता भी बेटे बेटी को रोने से रोटी देते हैं तब राजा से माँगने में कोई बुराई नहीं है। तुम ज्यों ज्यों माँगते जाते हो त्यों त्यों धीरे धीरे वह देती भी जाती है। किंतु काम वही करो जिससे तुम्हारे "नराणां च नराधिपः" इस भगवद्वाक्य में बट्टा न लगे। भगवान् के इस वचन से जब राजा ईश्वर का स्वरूप है तब उसकी गवर्मेंट शरीर न होने पर भी उसका शरीर है। इसलिये नियमबद्ध आंदोलन करना आवश्यक और अच्छा है किंतु जो मुठमर्दी करनेवाले हैं, जो उपद्रव खड़े करके डरानेवाले हैं अथवा जो अपने मिथ्या स्वार्थ के लिये औरों के प्राण लेने पर उतारू होते हैं उनके बराबर दुनिया में कोई नीच नहीं, पामर नहीं! वे राजा के कट्टर दुश्मन हैं। सचमुच देशद्रोही हैं। वे स्वयं अपनी नाक कटाकर औरों का अपशकुन करते हैं। उनसे अवश्य घृणा

करनी चाहिए। जो काम स्वयं करने के हैं उन्हें करके अपने आ।को औरों के लिये नमूना बनाओ। बस सीधा मार्ग यही है।"

संतानों का भी पंडित जी को सुख कम नहीं है। कमला-नाथ और इंदिरानाथ गत प्रकरणों में प्रकाशित घर की शिक्षा समाप्त करके हिंदू यूनिवर्सिटी में उच्च शिक्षा पा रहे हैं। इनके घर के अध्ययन का ढंग देखकर विश्वविद्यालय के कर्ता धर्ताओं ने उसे पसंद किया है और औरों को इनका अनुकरण करने की सलाह दी जाती है। लड़के दोनों चतुर हैं, बुद्धि-मान हैं, सुशील हैं, परिश्रमी हैं और सदाचारी हैं। इनके अतिरिक्त दोनों के और भी कई लड़के ल.कियाँ हैं। कई एक का विवाह होकर बहुओं का भी आगमन हो गया है। बस इनका घर यों फलती बेल है, लहलहाती लता है।

इस यात्रा में इन्होंने जहाँ जहाँ दीनशालाएँ खोलने की, पंडों को शिक्षा दिलाकर सुधारने की, तीर्थों के अनेक कुकर्म नष्ट होकर भलाई का प्रचार होने की, गोरक्षा, कुष्ठाश्रम और जीवदया-विस्तार की सलाह दी है वहाँ वहाँ सफलता होने की खबर पाकर इन्हें आनंद होता है, होना ही चाहिए। वह स्वयं किसी न किसी प्रकार से अवकाश निकालकर ऐसे ऐसे अनेक लोकहितकारी कामों में योग देते हैं, चंदा देते हैं और काम करने के लिये आगे बढ़ते हैं। जब इन्हें परमेश्वर की अनन्य भक्ति का, अपने तप का, अपने "विल पावर" का

और अपने सदाचार का बल है तब उनके कथन का, उनके कामों का औरों पर अच्छा असर पड़ता हो तो आश्चर्य क्या ? क्योंकि वह उन लोगों में से नहीं हैं जो --

''परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्म्मं स्वीयमनुष्ठाने कस्यचित्सुमहात्मनः ॥''

इस लोकोक्ति में ''पूर्वार्द्ध'' के अनुयायी हैं। औरों को वही झुका सकता है जो पहले स्वयं झुकता है। दुनिया ऐसे ही सज्जन के हाथ से झुकने को तैयार है जो करके दिखा देता है। संसार के इतिहास में उसका ही आदर है, वही पूजनीय देवता है। हमारे अवतार इसी लिये ईश्वर हैं और प्राचीन ऋषि मुनि देवता। ऐसे महात्माओं के एक दो नहीं हजारों ही चित्र हमारे पुराणों में हैं, इतिहासों में हैं और जो इनमें नहीं हैं वे परंपरा से धरोहर में प्राप्त जन समुदाय के हृदय-मंदिर में हैं। केवल उनसे लाभ उठानेवाला चाहिए, शक्ति चाहिए और वह पंडित जी की तरह भगवान् के चरण कमलों में सच्ची लौ लग जाने से प्राप्त हो सकती है। पंडित जी का चरित्र वास्तव में हिंदू-समाज का आदर्श है। लेखक की कल्पना ने जैसा गढ़ा है वैसे अनेक पंडित जी के पैदा होने की आवश्यकता है। पंडित जी अपने मन में——

''निशिवासर वस्तु विचारहि के, मुख साँच हिए करुणा धन है ।
अघ निग्रह संग्रह धर्म कथानि, परिग्रह साधुन को गन है ॥

कहि केशव भीतर जोग जगै, अति बाहिर भोगिन सों तन है।
मन हाथ सदा जिनके तिनको, बन ही घर है घर ही बन है॥"
इसके अनुयायी हैं—

"अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिंतयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥"

यही उनका मोटो है। लेखक के मनोराज्य में ऐसे ही पंडित जी ने निवास किया है और ऐसे ही हिंदू को "आदर्श हिंदू" की पदवी प्रदान होती है।